श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

# समाधितन्त्र प्रवचन

## तृतीय भाग

—:०:—

प्रवक्ता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज

---

प्रकाशक —

जयन्तीप्रसाद जैन, रिटायर्ड हेड कैशियर, स्टेट बैंक
मंत्री, श्री वर्णी साहित्य मन्दिर,
सेवाकली, इटावा (उ० प्र०)

[प्र]थम संस्करण ]
१०००

[ न्योछावर
१) ५०

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर की प्रतिष्ठापिका—

श्रीमती दानशीला पतवन्तीदेवी ध० प० स्व० श्री ज्ञानचन्द्रजी जैन, इटावा।

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी

सहजानन्द महाराज

प्रवर्तक सदस्य—

श्री रंगलाल रतनचन्द्रजी जैन पंसारी, इटावा

# समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

अविकृत उपयोग बनानेके उपायभूत भावनाका संकल्प— इन्द्रियोंके द्वारा जिनको मैं देखता हूं वे मेरे कुछ नहीं हैं और जब इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपके अंतरंगमे जो आत्मानन्दमय ज्ञानप्रकाशको देखता हूं वह मै हूं। यह जीव परपदार्थोंमें अनासक्त होता हुआ आत्मज्ञानको ही बुद्धिमें धारण कर सके— ऐसी कौनसी भावना है? यह बताना आवश्यक है, क्योंकि आत्मज्ञानसे भिन्न अन्य कुछ बात बुद्धिमें धारण न करनी चाहिए। जीवन चलाना है, गुजारा करना है, इस कारण कुछ अन्य कामों मे फँसना पड़ता है। उसे भी करे, किन्तु अन्य कार्यको बुद्धिमें बहुत समय तक धारण न करे। ऐसी स्थिति इस जीवमें कैसे आ सकती है? उसके उपायमें यह भावना बतायी गयी है कि इन इन्द्रियोके द्वारा मुझे जो कुछ दिखता है वह मेरा कुछ नहीं है।

दृश्यमान् पदार्थकी अहितरूपता— क्या दिखता है इन इन्द्रियोंसे? रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिंड पुद्गल। अन्य कुछ नहीं दिखता। क्या दिखता है इन इन्द्रियोंसे? अत्यन्त भिन्न ये अचेतन पदार्थ। इन पदार्थों से न मेरे आत्माको शांति होती है, न हित होता है, बल्कि इन पदार्थोंमें दृष्टि रहने से यह आत्मा विह्वल हो जाता है। आकुलताका स्थान है तो यह परिचित परस्थान है। तो जो कुछ इन इन्द्रियोंसे दिखता है वह मेरा कुछ नहीं है। भारी फँसाव और अन्य काम करने के एवजमें या धर्मके लिए बड़े यत्न करके उन कोशिशोंकी एवजमें सर्वप्रथम यह तैयारी बनाएँ कि दृष्टिमें यह बात विशद बनी रहे कि यह सब कुछ मेरा कुछ भी नहीं है।

अट्ट सट्ट व्यामोह— भैया! कुछ भी है नहीं अपना, पर मानते जा रहे हैं कि मेरा सब कुछ है और इस तरहसे सब कुछ मानते जा रहे हैं कि मेरी दृष्टिमें मानो ऐसी बात बसी हो कि यह मेरे से छूटकर जायेगी कहां सम्पदा? जब तक जियेंगे तब तक भी रहेगी और शायद मरने पर भी साथ जायेगी अथवा उन्हें इसकी कल्पना ही नहीं जगती कि मरने पर यह सम्पदा बिछुड़ जायेगी। जो कुछ इन इन्द्रियोसे दिखता है वह कुछ भी मेरा नहीं है। अनाप सनाप आ गयी कोई चीज घरमें उसको ही मान

लिया कि यह मेरा है। कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यदि यह जीव न आता और कोई आता तो उसीको मान लेता यह मोही मानता कि यह मेरा है। कोई भी पर-जीव मेरा नहीं है।

परात्मीयताकी प्रकार गालीमें— किसी वस्तुको मेरा कहना यह तो उस वस्तुको गाली देनेकी तरह है। सामने कोई आदमी हो और कोई पूछे कि यह कौन है? तो कहे कि यह मेरा आदमी है—ऐसा सुनकर क्या वह आदमी खुश होगा? नहीं खुश होगा। मकान अचेतन पदार्थ है, उसे यह जीव कहता है कि यह मेरा मकान है। यदि इस मकानमें जान होती तो वह भी झट कह बैठता कि यह मेरा आदमी है, पर बेचारा कुछ बोलता नहीं, जानता नहीं। यह जीव कहता है कि यह मकान मेरा है, यह बिल्डिंग मेरी है। जो कुछ दिखता है वह कुछ भी मेरा नहीं है, ऐसा अन्तर्निर्णय आये तो फिर ज्ञानी किसी भी अन्य पदार्थको अपनी बुद्धिमें चिरकाल तक धारण न करेगा। किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें न बसाये, इसके उपायके ज्ञानकी अन्तर्भावना दर्शायी जा रही है।

कल्पनाका क्लेश— भैया! एक भी भाईको क्लेश है ही नहीं. किसी को नहीं है क्लेश और मान रहे हैं सभी क्लेश। केवल क्लेशका कारण यह है कि अट्ट सट्ट कुछ-कुछ पुद्गलमें यह भाव भर रक्खा है कि यह मेरा है। जिसे मान लिया कि यह मेरा है और वह पास रहा नहीं. उसका परिणमन उसके साथ है, वह अपनी परिस्थितिवश बिछुड़ेगा, विमुक्त होगा, भागेगा उस समय यह क्लेश करता है, हाय मेरे हाथ अब नहीं रहा. अथवा वर्तमानमें पास भी नहीं है कुछ, पर कल्पनामें मान लिया कि यह मेरे सम्बन्ध वाला है और न आये पास तो कष्ट होता है कि अरे वह मेरा अब मेरे पास नहीं है, फिर किसको तुम बुद्धिमें रमाते हो?

बेहूदा व्यामोह— चेतन पदार्थोंसे कुछ मोहीजनों का राग हो जाना उसमें इतना बेहूदा व्यामोह नहीं है जितना कि इन जड़ पुद्गल पदार्थोंमें कंकड़ोंमें ढेलोंमें वैभवोंमें यह बुद्धि हो जाना कि यह मेरा है, उनमें राग हो जाना, प्यार हो जाना यह अधिक मूढ़ताकी बात है। ये दूसरे जीव तो हम आपकी तरह कुछ चेष्टा करते हैं, कुछ बात करते हैं, चेतन हैं, उनका आकर्षण होता है, हमारी ही तरह जानन देखनहार स्वरूप वाले हैं। राग हो गया उनमें. पर ये धन मकान वैभव सोना चांदी ये सब पूर्ण अचेतन हैं, इनकी ओरसे कुछ जवाब भी नहीं मिलता, संकेत भी नहीं होता, और यह केवल अपनी ओर से उनकी ओर झुका जा रहा है। उनमें ही आकर्षित होना यह तो महा व्यामोह है। जो कुछ हम इन इन्द्रियोंसे देखते हैं वे मेरे

ही नहीं, फिर मैं अपने उपयोगमें किसको बसाये रहूं ?

आत्मज्ञानकी तैयारी— मैं हूं क्या, इसको यदि जानना है तो इसे ाननेके लिए भी बड़ी तैयारी करनी होगी। यह यों ही नहीं जान लिया ायेगा। जैसे भोगोंका भोगना आसान काम है पर भोगोंसे विरक्ति होना, ोगोंका त्याग करना यह शूरवीरोंका काम है। यों ही इन इन्द्रियोंसे बाह्य दार्थोंको निरखकर उनकी बात जानते रहना, समझते रहना—यह आसान ो रहा है, किन्तु कहा जाय कि तुम बाह्यपदार्थोंमे न उलझकर अपने न्तरमे केवल आत्माके सहज ज्ञायक स्वरूपको निरखो तो इसमें बड़ा ोर पड़ता है। जो अत्यन्त स्वाधीन बात है सुगम है, खुदके खुद यह ही ो घरे बैठे है, किन्तु अपने आपको जानने भरमे इसे बड़ी मेहनत पड़ ही है। आत्माके ध्यान या चिंतन करनेको बैठता है तो यह चित्त मेढक ी तरह कूदकर उछल भागता है। यह सब व्यवहारकी बात है। अपने ापको जानना है, समझना है तो कुछ अपनी तैयार भी करनी होगी। ह तैयारी है भेदविज्ञान का करना और इन्द्रियोको संयत कर देना, न्द्रियके विषयोमे प्रीति न जगना, इनकी ओर आकर्षण न होना, इन्द्रिय े विषयोंमें प्रवृत्त न होना। क्या ऐसी तैयारी हो नहीं सकती ?

इन्द्रियसंयमन— देखो भोजन करनेका रस, स्वाद लेने का काम इस समय आप सबके बंद हैं, कल्पना तक भी नहीं जग रही है कि मुझे खाना है। जैसे कि इतर लोग जो रात्रिको खाते हैं उन्हे इस समय भी संस्कार बना होगा या तो खाकर आये होंगे अब रात को सो उसका मौज मान रहे होंगे, थोड़ा पेट पर हाथ-फेर रहे होंगे कमीजके भीतर हाथ रख कर। कुछ न कुछ वासना संस्कार जरूर उस ओर होगा और न खाया होगा तो चित्तमे होगा कि अब जाकर उन रोटियोंको खायेंगे। कुछ चित्त व्यग्र होगा, पर जिनका रात्रिभोजन त्याग है उनके कल्पना तक भी न हो रही होगी, उनकी रसना इन्द्रिय संयत हो गयी अथवा नहीं ? इस समय आपकी यह रसना इन्द्रिय सयत है। जब इस समय यह रसना इन्द्रिय संयत है तो क्या अन्य इन्द्रियोंको संयत नहीं किया जा सकता ? इन आंखोसे क्या देखना ? दिख जाय तो दिख जाय, किन्तु क्या प्रयत्न करें कि उसमे राग न हो, फँसाव न हो। जो भी चीजें दिखेंगी उनमे कुछ तो कोरी अचेतन हैं कुछ तो पुद्गल हैं, उनकी तो ऐसी दशाएँ है, उनका क्या निरखना ?

पुद्गलमे क्या देखना— एक बार हम श्रवण बेलगोलकी यात्रा करने गये, ८ वीं प्रतिमा थी, किन्तु ८ वी प्रतिमामें ही मैने पैसा न छूनेका

नियम रखता था कि मुझे अपने हाथसे पैसा नहीं छूना है। दूसरेसे कहे कि यह उठा लो, गिनलो, धरलो तो ऐसी स्थितिमें हम सब को और साथ ले गये। मझो ही सर्व हलचल हो जाय। ८ वीं प्रतिमामें पैसा रख सकता है, छू सकता है, जेबमें रख सकता है। पर हमने पैसा तो रक्खा था, पर छूने का त्याग कर दिया था। सो दोनोंके खर्चेके लिए पैसा हमने दूसरे को मैंने सौंप दिया था। अब यह ही सब करे। इस यात्रामें जब हम चले तो हमारे गुरु जी बोले— देखो मनोहर खव्र.चेत गोल है, जाना तो ध्यानसे देखकर आना, अमुक चीज देखकर आना। इस समय थोड़ा सोचा कि वहां देखने जायें, क्या कह दिया गुरु जी ने, वहां दो मील, चार मील जायें, वह कल्पसागर कोई पुद्गल ही तो होगा और क्या होगा वहां ? फिर बोले-- नहीं, जरूर देखकर आना, अच्छी जगह है, अच्छा स्थान है, जरूर देखकर आना। खैर मैंने यह सोचकर कि गुरु जी का यह भाव होगा कि बिना देखे आ जानेपर इसके फिर कल्पना न जगे सो देखकर आये। तो अचेतन कुछ होगा वह पुद्गलकी ही तो कुछ रचना होगी, चमकदार होगा, सफेद होगा, आकार होगा, गोल होगा, चौकोर होगा। उन पुद्गलोंका भी क्या अनुराग ?

शरीरमें क्या देखना— यदि जीवित शरीर है तो हाड़ मांस रुधिर पसीनाके पिंड हैं, उनको भी क्या रुचिपूर्वक देखना ? उसमें भी क्या तत्त्व है ? जब कुछ देखने लायक नहीं है तो ये आंखें सहज कुछ देख लेती हैं तो देखलो, किन्तु अनुरागपूर्वक कष्ट करके, श्रम करके किन्हीं चीजोंको निरखना व्यर्थकी बात है।

कोरी चर्चासे अलाभ-- जो कुछ दिखता है वह मेरेसे भिन्न है, अहित है, असार है, तो किस परपदार्थको मैं अपने उपयोगमें रक्खूँ ? यहां मेरा कहीं कुछ नहीं है। यहां श्रद्धा, अन्तरमें निर्णय करते हुए होनी चाहिए। केवल धर्मके प्रसंगमें, धर्मकी चर्चामें जो अपने मनको बहलानेके लिए ज्ञान विज्ञानकी बात कर दी जाय तो उससे कुछ अंतरङ्गमें सारकी बात नहीं निकलती; बल्कि यह कोरी सूखी, भावविहीन 'धर्म की' चर्चा अपने भीतरके ऐबोंके छिपाने वाली होती है।

भावविहीन धर्मचर्चासे मात्र दोषावरणकी प्रयोजिका-- जैसे बड़े बड़े धनिकोंके दान उन धनिकोंके दोषको छिपाने वाले होते हैं। कर दिया किसी जगह दो लाख रुपयेका दान। इन्हें क्या टोटा पड़ा है ? बीस लाख का मुनाफा कर लिया था कहीं अट्ट सट्ट ढंगसे और दो लाखका दान कर दिया। यदि भावविहीन कोई दान करता है तो वह दान दोषोंको

ला होता है। यों ही भावविहीन जो पुरुष धर्ममें यत्न करता है उसका
ो यत्न अन्तरङ्गके दोषोंके छिपानेके प्रयोजनको साधने वाला होता है।

गुप्तज्ञान और आनन्द— भैया! अन्तरमें निर्णय हो और गुप्त ही
ुप्त रहकर किसीको दीखा क्या है, किसीको बताना क्या है? अपने ही
ापमें हम कर सकें अन्तरंगमें हितका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण तो
ह मुझे भला है। यों भेदविज्ञान सहित जो धर्ममार्गमें कदम चलाता है,
ायतेन्द्रिय हो जाता है— ऐसा पुरुष अन्तरंगमें एक बड़े आनन्दपूर्वक
छ कुछ देखता है। क्या देखता है? इसको वह भी बता नहीं सकता। पर
ह यह कहेगा कि मुझे बहुत आनन्द आया था, तुमने बीचमें टोक दिया,
झे इसमें विघ्न हो गया। मैं अपने एक शुद्ध आनन्दमें मग्न हो रहा था,
सा आनन्द पा रहा था, वह बता नहीं सकना।

आनन्दके विवरणकी अशक्यता पर एक लोकदृष्टान्त— भैया!
ता दो कि आप भी किसी वस्तुका स्वाद न कर सकेंगे, कुछ भी बता दो।
ाप रोज रोज उड़दकी दाल रोटी खाते हैं, जरा बताओ कि इसमें कैसा
वाद आता है? अरे, पूड़ीसे भी अधिक स्वाद है, मिठाईसे भी अधिक
ाद है। कैसा है? सही सही बताओ। अरे, मेरे पास उस भोजनके स्वाद
ो बताने वाले कोई शब्द नहीं हैं। फिर जो इन्द्रियोंको संयत करके अपने
ापमें अन्तरंगमें जो कुछ देखा है इस ज्ञानीने उसमें जो आनन्दानुभव
व उसी आनन्दके साथ जो ज्योतिप्रकाश दीखा कि मैं तो बस इतना ही
ात्र हूं, अन्य कुछ नहीं हूं।

कुमार्गमें संकटकी अनिवार्यता— दुःखके रास्तेमें तो आप खुद चले
ा रहे हैं, दूसरोंके भी कुछ भाग्य लगा है या नहीं, इसका कुछ ख्याल नहीं
, किन्तु इनका पालन पोषण करने वाला मैं हूं, यह दुराशय बनाये हैं।
ब अहंकार बसाया है तो दुःखी होना ही पड़ेगा। अहंकार बनाये रहें, पर
स्तुके करने वाला भी हम मनमें जचते रहें और सुख शांति भी देखें तो
ह नहीं हो सकता। दुःखोंके रास्तेसे हम खुद चलते हैं और दुःखी होते
। बड़े बड़ोंने राज्य छोड़ा, सम्पदा छोड़ी और केवल अपने आत्मीय
ानन्दमें लीन होनेका यत्न किया। हम अपने पुरुषोंकी करतूत कुछ नहीं
और जो मनमें जँचा, उसी बातमें बहे जा रहे हैं, तो बताओ दुःखके
र चलनेसे सुखकी आशा करें तो कैसे होगा?

के रास्तेमें नंगे पैर जाये और कांटा लगने पर क्रोध करें,
? अरे कांटोंके रास्तेसे जा रहे थे, वह तो लगेगा ही।
ज्ञानके रास्तेसे चले जा रहे हैं तो वहां क्लेश आयेंगे

ही। क्लेश आने पर खेद नहीं करें, क्योंकि हम खुद ही कुपथ पर जा रहे हैं, इसलिए क्लेश हुआ।

मेरे लिए बाह्यपदार्थोंकी अनुपयोगता— जगतमें कोई भी पदार्थ मेरे उपयोगमें फँसाने योग्य नहीं है। भीतरसे मोहकी गांठ टूटनी चाहिए। मोह करके गुणगान न करें कि मेरा लड़का बड़ा आज्ञाकारी है, मेरी यह लड़की बड़ी विनयशील है। अरे, ये प्रशंसाएँ जीवके गुणोंको देखकर नहीं कर रहे हो तुम, किन्तु मोहके वश कर रहे हो। जिन जीवोंके गुण देखकर तुम प्रशंसा कर रहे हो, उनसे हजारगुने अच्छे दूसरे जीव हैं। इनके गुण-गानको जिह्वा ही नहीं हिलती। कुटुम्बमें बसे हुए लोगोंसे अधिक गुणवान् इस लोकमें पाये जाते हैं, उनके गुण बखाननेको तुम्हारा मन क्यों नहीं करता ? यह मोहका प्रतिकार है।

करुणा या व्यामोह—अपने लड़कोंकी वेदनाको देखकर या स्त्री आदि सम्बन्धियोंकी पीड़ा देखकर जो करुणा उत्पन्न होती है, दया उत्पन्न होती है, देखा नहीं जाता है, हृदय भर आता है। क्या उसे दया कहेंगे ? पासमें ही पड़ौसका आदमी आपके बच्चेसे दस गुना दुःखी है, बीमार है, कराह रहा है, उसे देखकर तो अन्तरमें वेदना नहीं हो रही है। एक स्त्री और पुत्र पुत्रीके कुछ थोड़ेसे दुःखको देखकर चित्त दहल जाता है। हाय कितना दुखी है, इसे दया कहेंगे क्या ? इसे तो मोह कहेंगे। दयामें शुद्धता बसी होती है। इस गृहस्थकी उस अनुकम्पामें शुद्धता नहीं बसी हुई है। शुद्धता बसी होती तो पड़ौसका आदमी उससे दस गुना दुःखी है, उसे देखकर दया क्यों नहीं आती ? यह सब मोहकी बात है।

धर्मपालन या व्यामोह— किसी स्त्री और पुरुषको मिलकर पूजा करनेका शौक होता है। पुरुष भी पूजा कर रहा, स्त्री भी पूजा कर रही, कुछ द्रव्य चढ़ायेंगे तो अपनी रकेबीमें पुरुष लौंग रख लेगा, स्त्रीको बादाम दे देगा और बड़ी भक्तिसे गद्‌गद् होकर पूजन करते हैं। ऐसा करें, यह अच्छी बात है, पर जरा दिलको तो टटोल लो कि तुम वहां धर्मबुद्धिसे पूजन कर रहे हो या मोहबुद्धिसे पूजन कर रहे हो ? मोहबुद्धिसे किया गया पूजन धर्ममें न आएगा। वहां तो केवल स्त्रीका चित्त प्रसन्न करना है, यही उसका उद्देश्य है। तो यों ही समझिये कि जिनमें मोह है, उन पर दया उत्पन्न हो तो वह दयामें शामिल नहीं। दयावृत्ति जगी हो तो सबकी ओर दृष्टि जानी चाहिए। जो कुछ दिख रहा है, वह मेरा नहीं है, उसे क्यों उपयोगमें बसाते हो ?

"मैं" के निर्णय पर शान्तिकी निर्भरता और एतदर्थ प्रथम कदम—

क्या हूं ? इस निर्णय पर शांतिका मार्ग निर्भर है। मैं जो हूं, उसका र्णय प्रायोगिक ज्ञान द्वारा है। उसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि ात्मतत्त्वका और अनात्मतत्त्वका भेदविज्ञान हो, कल्याणार्थी पुरुषको कम कम इतना तो ज्ञान होना ही चाहिए कि मैं आत्मा चेतन हूं और अन्य मस्त पदार्थ जो दृश्यमान् हैं, वे अचेतन हैं और जो अन्य जीव हैं, वे झसे अत्यन्त भिन्न हैं। इतना भेद तो प्रथम ही आवश्यक है। यह भेद-ज्ञान मनमे घटित हुआ होना चाहिए। वैसे तो आवाल-गोपाल, सभी ोग, देहातीजन, सभी प्रकारके मनुष्य जीव न्यारे हैं, शरीर न्यारा है-- सा कहते हैं।

किसीकी मौत हो गई तो स्पष्ट कहते हैं कि देखो यह चोला छोड़कर ला गया। जीव न्यारा है, पर सबसे विविक्त यह जीवतत्त्व अपने आपमें क ज्ञानज्योतिको लिए हुए प्रकट होवे तो यह उत्तम बात होगी। सो प्रथम ात्मा और अनात्माका भेदविज्ञान होना चाहिए। यह है कल्याणार्थी पुरुप ा पहिला कदम अपने आपके स्वके अनुभवके लिए।

कल्याणके प्रयोग— ज्ञानी का कल्याणके अर्थ दूसरा कदम होता है इन्द्रियोंको संयत करना। ये इन्द्रियां बाह्यरूपमे स्वच्छन्द होकर न प्रवर्तें-ऐसा नियतेन्द्रिय बननेके लिए यह उपाय किया जाता है, जो भेदविज्ञानसे सम्बन्धित है। यह विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द आदि पदार्थ मेरे नहीं हैं। इनसे मेरा कोई सुधार अथवा बिगाड़ नहीं होता है। ऐसे निर्णयके बलसे इन्द्रियोंको उनमें न लगाना मुमुक्षु पुरुषका दूसरा कदम है। इससे नियतेन्द्रिय यह हो गया। अब परपदार्थको उपयोगसे हटावे और निजपदार्थको उपयोगमें लाये। इस उपायके बाद अपने आपमें स्वय एक विश्राम बनेगा और वहां आनन्द सहित यह उत्तम ज्योति उपयोगमे प्रकट होगी। यह ही स्वानुभूति है, यह ही परम आनन्दस्वरूप कल्याण-रूप है।

मोही जीवका अविवेक— इस जीवने अब तक क्यासे क्या नहीं किया ? आहार, नींद, भय, मैथुन-इन चार संज्ञाओंसे पीड़ित होकर भव भवमें इन संज्ञाओंका काम किया। स्वयं तो यह ज्ञानानन्दस्वरूप है, किन्तु अपने स्वरूपका आदर न करके इन संज्ञाओंके ही पोषणमें अपना समय गंवाया। जो धुन कीड़े मकौड़ोंकी है, जो धुन पशु पक्षियोंकी है— खाते ही रहना, नींद लेना, डरना, कामसेवन करना, यदि यही धुन इस मनुष्यभवमें रही तो पशु पक्षियोंसे इस मनुष्यमें क्या विशेषता रही ? इस जीवको यह ही विडम्बना चली आ रही है और यह इसमें ही अपनी चतुराई मानता

है। पांच इन्द्रियां और छठा मन ऐसे इन छः प्रकारके विषयोंकी साधनामें जिसने जितनी चतुराई पायी, वह जानता है कि मैं बहुत बड़ा हूं और मैं होशियार हूं। यह विदित नहीं है कि विषयोंमें जितनी वृत्ति बनायी है वह मेरे अहितके लिए है।

अन्तर्ज्ञानीका भाव— जिसे अन्तरमें ज्ञान जगा है वह सबको अपरिचित देखता है और अपनेको भी यों समझता है कि मुझे भी कोई जाननहारे नहीं हैं। न मैं दूसरेको जान रहा हूं, न दूसरे मुझे जान रहे हैं। अपरिचित दुनियामें कषायें ज्यादा नहीं जगा करतीं। जब दुनिया परिचित होती है तो कषायें जगती हैं। इसने मुझे छोटा समझ लिया, मैं कहां छोटा हूं। दो आदमियोंमें सन्मान और अपमान का भाव बनता है। जो अपनेको अकेला ही जान रहा है उसमें सन्मान अथवा अपमानका क्या प्रकरण है, एकत्व ही अमृत है। जितना अधिक इस एकत्वका आदर होगा, एकत्व स्वरूपमें ही अपने उपयोगकी पहुंच रहेगी, उतना ही इसके मोक्षमार्ग प्रकट है और यह शांतिके निकट है। तो भेद विज्ञान करके इन्द्रियोंको संयत करके समस्त बाह्यपदार्थोंको हटाकर अपने आपमें अपनेको जोड़कर जो एक आनन्दघन विज्ञानमय निज ज्योतिका अनुभव जगता है वह ही ज्योति मेरी सदा काल रहो।

ज्ञानीका यत्न और भावना— जब यह अन्तरात्मा पुरुष भेदविज्ञानकी दृष्टिके बलसे इन दृश्यमान् पदार्थोंको अपना नहीं मानता है और ज्ञानानन्दघन निजस्वरूपके अनुभवके लिए ही यत्नशील होता है तो समस्त इन्द्रियव्यापार रुक जाते हैं। अन्तरङ्गमें अपने उत्तम ज्ञानज्योतिका दर्शन होता है। फिर तो उसका मन सर्व परपदार्थोंसे हटता है और अपने आपकी आराधनामें लग जाता है, ऐसी ही भावना ज्ञानीसंत पुरुष करता है कि मेरे को तो ऐसी उत्तम ज्ञानानन्द ज्योति प्रकट रहा करो। ऐसे आत्मज्ञानको छोड़कर किसी अन्य कार्यको बुद्धिमें अधिक देर धारण करना युक्त नहीं है।

ज्ञानीका प्रयोजनवश क्वचित् व्यापार— भैया! प्रयोजनवश किन्हींमें पलना पड़े, फंसना पड़े तो उसे यों समझें जैसे लोग कहा करते हैं एक अहानेमें कि 'गले पड़े बजायसरे।' इस अहानेका क्या अर्थ है?, बहुतसे मित्र साथ-साथ थे। मजाक आपसमें हो रहा था। एक मित्रने एक मित्रके गलेमें तासा बाजा डाल दिया। समझलो जैसे कोई बजाता है ना तासा वैसे ही उसके गलेमें डाल दिया। जब गलेमें बाजा डाल दिया मित्रोंने तो यहां तो लोगोंने मजाककी कि ऐसी मजाकसे सारे मित्र खुश होंगे और

सभी मित्र इसे मजाक मान लेंगे। पर उसने उस मजाक को टालने के लिए कुछ और ही चेष्टाएँ कीं। उसने सोचा कि लोग यों न समझ पायें कि इन्होंने मजाक किया, सो उसने पाससे दो डंडियां उठाकर तासेको ढंग से बजाना शुरू कर दिया। नहीं तो शरम करके कहीं छिप जाता पर शरम न करके वह उसे बजाने लगता है। अरे गलेमें ढोल तासा किसी ने डाल दिया तो बजाने से ही पिंड छूटेगा। यों ही जब परपदार्थोंमें इस जीवकी स्थिति बन गयी है तो उसे निभाना ही पड़ेगा। पर धन्य हैं वे ज्ञानी गृहस्थ जो घरमें रहते हुए भी निभाने जैसा ही समझते हैं। अन्तरङ्गमें उन्हें मोह नहीं है, निर्मोह गृहस्थ कभी व्याकुल नहीं होते, यह बात बिलकुल सत्य जानो। कुछ भी स्थिति आ जाय। क्या स्थिति आयेगी?

क्लेशका कारण मोह—भैया! किसी भी स्थितिमें यदि कोई गृहस्थ दुःखी हो रहा है तो समझो उसके कारण किसी न किसी पदार्थका मोह है। पद्मपुराणमें एक घटना आयी है—उदयसुन्दरकी बहिन वज्रभानु को ब्याही थी। जिस ही साल शादी हुई, वज्रभानु लिवा ले गया तो १५-२० दिन बादमें उदयसुन्दर बहिनको लिवाने पहुंचा तो वज्रभानुके इतना दुःख हुआ वियोगका कि उस स्त्रीके साथ ही साथ ससुराल चल दिया। अब साथमें तीन व्यक्ति हैं। उदयसुन्दर, वज्रभानु और वज्रभानु की स्त्री। तीनों जंगलमें से गुजरते हैं तो जंगलमें एक साधु महाराज जो युवक और कांतिमान् था, उसकी मुद्रामें आनन्दरस टपक रहा था। उस साधुको वज्रभानु टकटकी लगाकर देखने लगा और मनमें सोचने लगा कि धन्य है यह महापुरुष, कितना आनन्द लूट रहा है यह और मैं पापी अधम जो कि इतने तीव्र मोहमें हूँ कि थोड़े दिनोंका भी वियोग नहीं सह सकता, इसके साथ जा रहा हूँ। उसने अपने आपको धिक्कारा और उस साधुकी अंतरंग मुद्रामें उसका मन लगा।

निर्मोहताका अभ्युदय—वज्रभानु साधुकी मुद्राको बहुत देर तक देखता रहा। साला दिल्लगी करता है—क्या मुनि बनना चाहते हो? वज्रभानुके मनमें साधु बननेकी ही बात आयी हुई थी, पर थोड़ासा इस संकोचमें था कि साथमें ये दो हैं, इनको मैं क्या कहकर बनूँ मुनि? लेकिन साले ने जो दिल्लगी किया कि क्या तुम मुनि बनना चाहते हो? तो उसे थोड़ा सा मौका मिल गया जवाब देनेका। बोला—मैं मुनि बनूँगा तो क्या तुम भी बनोगे? उदयसुन्दर कहता है—हां तुम बनोगे तो मैं भी बन जाऊँगा। उदयसुन्दरको पता न था, किन्तु जानता था कि यह इतना आसक्त मोही पुरुष क्या मुनि बनेगा? लो, वज्रभानु सारा वेशभूषा उतार

कर साधु हो गया। ऐसी अचरज भरी घटना देखकर उदयसुन्दरका भी चित्त बदल गया। वह भी निर्मोह हो गया और साधु बन गया। जब मोह हट जाता है तो यह फिकर नहीं रहती कि अब यह स्त्री रह गयी है। अकेली यह क्या करेगी, कहां जायेगी? इन दोनोंको यों साधु होते देखकर स्त्रीके चित्तमें भी विचित्र परिवर्तन हुआ, वह भी वहीं पर आर्यिका हो गयी। देखो अचानक ही क्या कर दिया? सकल सन्यासी हो गये।

अकर्तृत्वका दर्शन— भैया! अधिक कुछ पुरुषार्थ न हो तो इतना तो मानों कि गृहस्थावस्थामें कभी भी ऐसे ख्याल मत बनावो कि मैं ही इनको पालतापोषता हू, मैं ही इनको सुखी दुःखी करता हू। अरे घरके सभी जीवोंके साथ अपना-अपना भाग्य लगा है। मैं भी एक जीव हूं। अपना ही सब कुछ अपने में लिए हुए हू। मेरा मेरे से बाहर किसी अन्य से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। होना स्वयं जगत परिणाम। सबके भाग्य हैं, उनके कर्मोदयसे उनका जीवन-मरण सुख अथवा दुःख होता है। मै उनका कुछ करता नही हू। मैं भी केवल अपने विभाव विचार बनाया करता हू। कोई दिन तो ऐसा होगा कि सर्व कुछ छोड़कर मैं अकेला बन जाऊँगा। शरीर भी साथ न निभायेगा। और परमार्थता तो यहां घरमें बसकर, कुटुम्बियोंके बीच रहकर भी मैं अकेला ही हू--ऐसा अपने एकत्वका आदर हो गृहस्थके तो उसे आकुलता नहीं हो सकती। जहा यह बात मन में बैठी है कि मुझे तो इन नाक थूक भरे हुए चेहरोंमें यह जताना है कि मै भी कुछ हूं। जहां ऐसी भावना जगी कि क्लेश वहासे शुरू हो जाते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानीका विलास— अहो, ज्ञानी सतकी वृत्ति अलौकिक होती है। जैसे किसी वस्तुमें गहरा स्वार्थ भरा हो तो वह उस स्वार्थके कारण बेशरम हो जाता है, अपनी ही बात रखता है, चाहे लोकमें कितना ही अपयश हो जाय? यों ही जिसे इस ज्ञायकस्वभावी आत्माको ज्ञानमें उतारने की धुन लगी है, ज्ञानानुभूतिके परिणमनका ही उत्साह जग रहा है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको दूसरे आदमियोंका सकोच नहीं रहता है। यह अज्ञ मनुष्य दूसरोंकी दया करने के लिए घरमें नहीं फसा है किन्तु उसे स्वय ही एक मोहकी वेदना ऐसी लगी है कि वह अपने को सबसे विविक्त समझ ही नहीं पाता है। ऐसी स्थितिमें क्या हाल होगा? हाल यही होगा कि दुखी होता चला जायेगा, कोई उन्नति की बात नहीं हो सकती है।

अकारण स्वरूपभ्रष्टता— गृहस्थोंको ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि जिस बातके लिए तड़पन मच रही है, जिस बातके लिये कि मैं धनी बन जाऊँ और लोकमें मेरी इज्जत बन जाए, ये दोनों ही बाते उसके

ऊपर निर्भर नहीं है। लोकमें इज्जत बढ़ जाना भी इसके हाथकी बात नहीं है। यहां तो अपना सदाचार कीजिए, फिर जो होगा वह स्वयं होगा। कोई अपनी किसी बात पर सम्मान बुद्धि बढ़ावे तो क्या सम्मान होता है? कोई अपनी इज्जत व पोजीशनको अक्लका दिवाला खोलकर मन, वचन, कायसे बढानेका यत्न करे तो क्या इज्जत बढ जाती है? ये दोनों ही बातें इसके अधिकारकी नहीं हैं। फिर किसलिए स्वरूपभ्रष्ट होकर इन बाह्यअर्थोंमे लगा जाए?

स्वयंकी स्ववशता— मैं तो एक ज्ञानानन्दमात्र आत्मज्योति हूं। यह अपना समस्त धर्मपालन इसको मौन रहकर गुप्त रहकर अपने आपके ही अन्तरङ्गमे अन्तर्ज्ञानके उपायसे किए जानेकी बात है। मैं दूसरोंको कुछ दिखा दूं—ऐसा परिणाम बहुत कलुषित परिणाम है। धर्मका पालन जहां दूसरोंको बतानेके लिए किया जा रहा हो, वहां धर्मका पालन नहीं होता। यहां कोई मेरा प्रभु नहीं है कि मै कैसा चलू, कैसा बनू, लेकिन कोई अन्य मेरा उद्धार कर दे—ऐसा किसी दूसरेके वशका नहीं है। फिर किसमें मैं अपने उपयोगको फंसाऊँ? ऐसी भेदवासना सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानमें रहा करती है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय— सीधीसी बात यह है कि परिजन और वैभवका मोह न होना चाहिए। यदि मोह होगा तो मोहकी प्रकृति तो आकुलताको उत्पन्न करनेकी है। ये सब ज्ञानकी बाते हैं। घर छोड़नेकी बात तो यहां कही नहीं जा रही है। इस दृष्टिमें यह मनुष्य घरको कब पकड़े है? जब घरको पकडे हुए नहीं है तो घरको छोडे कैसे? यह तो अपने प्रदेशों मे बसता हुआ विकार बनाया करता है। किसी अन्य वस्तुसे यह जीव फँसा नहीं है, किन्तु अपनी अज्ञानमय कल्पनासे यह जीव फसा हुआ है। मोह करे और सुखकी आशाको रक्खें तो यह त्रिकालमें तो हो ही नहीं सकता।

सत्य ज्ञान हो जाये कि मैं इतना हू, केवल हूं- ऐसा अन्तरङ्गमें निर्णय और अनुभव जग जाए तो यह हुआ कल्याणका मार्ग। मै तो केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ऐसा निजको अनुभवता हैं अर्थात् मुझे अन्तरङ्गमे सुख को उत्पन्न करती हुई एक शुद्ध ज्ञानज्योति बनानी है। बस इस प्रकारका उत्तमज्योतिस्वरूप ही मै होऊँ, अब मैं अन्य कुछ भी तो नहीं होना चाहता हूं।

अन्तरमें आशयका स्वाद— देखो भैया! अन्तरमें आशय शुद्ध है तो उसको आनन्दका अनुभव होता है और यदि अन्तरमे आशय मलिन है

तो उसे क्लेशका अनुभव होगा। एक राजाने मन्त्रीसे मजाक किया सब लोगोंके बीच कि मन्त्री! मुझे ऐसा स्वप्न आया कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे। रास्तेमें दो गड्ढे मिले। एक गड्ढेमें गोवर व मल भरा हुआ था और एक गड्ढेमें शक्कर भरी हुई थी। हम तो शक्करके गड्ढेमें गिर गए और तुम गोबर व मल वाले गड्ढेमें गिर गए। मन्त्री बोला कि महाराज! हमने भी बिल्कुल ऐसा ही स्वप्न देखा कि हम तो गिर गए गोवर व मलके गड्ढेमें और तुम गिर गए शक्करके गड्ढेमें, पर इससे आगे थोड़ा स्वप्न और देखा कि हम तो तुम्हें चाट रहे थे और तुम हमको चाट रहे थे।

अब यह बतलाओ कि राजाको क्या चटाया? मल व गोवर। स्वयंने क्या चाटा? शक्कर। तो देखो राजा पड़ा तो है शक्करके गड्ढेमें, पर स्वाद ले रहा है गोवर और मलका। मन्त्री पड़ा तो है गोवर और मलके गड्ढेमें, पर स्वाद ले रहा है शक्करका। यों ही गृहस्थको होना चाहिए कि गृहस्थीमें रहकर आत्मस्वरूपका ध्यान रक्खे। अरे इस दुर्लभ नरजन्म से वास्तविक आनन्द लूट लो। वह वास्तवि आनन्द क्या है? सर्वबाह्यअर्थोंको भूलकर निजके सहजज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लो। एक क्षण भी, एक सेकिण्ड भी और एक पल भी इस निजज्ञायकस्वरूपका अनुभव कर लो तो उस ज्ञानामृतका स्वाद आएगा, जिसमें भगवान् निरन्तर छके हुए रहते हैं।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

आरब्धयोगके अध्यात्मशमनमें कठिनाई— पूर्व श्लोकमें यह बताया गया था कि समस्त बाह्यपदार्थ या दृश्यमान जगत् मेरा कुछ नहीं है, इस कारण इस जगत्से प्रीति हटाकर अपनी इन्द्रियको नियन्त्रित करो और परमविश्राम करके अपने आनन्द सहित जो कुछ दिखता हो, वह मैं आत्मा हूं—ऐसी अनुभूति करो। वहां क्या दीखा? ज्ञान और आनन्दमें दीखा अर्थात् अनुभव हुआ। यह बात सुनकर यह आशंका मनमें हो ही जाती है कि जब ऐसा ज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है, सहजभाव है तो एक तो यों ही दुःख न रहना चाहिए था और जब उस कल्याणमार्गमें कदम रखते हैं तो वहां पहिले क्यों ऐसा लगता कि इस आत्माके कार्यमें तो क्लेश हुआ।

उसके समाधानमें यह उपदेश दिया जा रहा है कि जिस किसीने भी आत्मभावनाका अभ्यास कुछ प्रारम्भ किया तो उन समस्त जीवोंको

बाहरमें सुख मालूम होता है और अन्तरमें बहुत ही रोष व दुःख मालूम होता है।

प्रथमाभ्यासमें आन्तरिक अस्थिरता— जैसे जिसे पानीमें डुबकी लगानेका अभ्यास नहीं है, पानीमें घुसे ही घुसे बहुत दूर तक अन्दर ही अन्दर तैर कर निकल जानेका जिन्हें अभ्यास नहीं है ऐसे पुरुषको जबरदस्ती पानीमें डुबकी लगवायी जाती है तो वह बाहर उठना चाहता है। उसे पानीमें क्लेश मालूम होता है और वह बाहरमें अपना सिर निकालनेमें सुख अनुभव करता है। और जिसने अभ्यास कर लिया है वह तो खुशी खुशी अन्दर-अन्दर तैरा करता है, ऐसे ही समझो कि जिसने इस आत्मभावनाका अभी-अभी अभ्यास प्रारम्भ किया है ऐसे पुरुषको बाहरमें तो सुख मालूम होता है और अपने आपमें दुःख मालूम होता है। पद्मासनासे बैठो, देखो कमर बिल्कुल सीधी करो, आंखें बन्द करो, भीतर अपना चित्त लगावो। अरे करता है कोशिश पर दिल चाहता है कि कुछ देख तो लूँ, क्या है सामने? चित्त चाहता है और वैभव सम्पदामें यह उपयोग दौड़ जाता है। भीतर सुन्नसा होकर कुछ मालूम करना चाहता है तो एक घबड़ाहटसी मालूम होती है। जिसने इस आत्मभावनाका अभ्यास अभी अभी ही प्रारम्भ किया है उसे बाहर में तो सुख लगता है और आत्मस्वरूपकी भावनामें दुःख प्रतीत होता है। किन्तु जिसने आत्मभावनाको खूब किया है, आत्मतत्त्वके ध्यानके जो अभ्यासी हैं उनको बाहरमें तो क्लेश मालूम होता है और अपने आपके आत्मामें सुख मालूम होता है।

ज्ञानदृष्टिमें अध्यात्मरमणकी सुगमता— भैया! अज्ञानके समान विपत्ति और कुछ नहीं है। लोकमें भी यह धन वैभव सम्पदा कोई सुखकी बात नहीं है। कदाचित् यह कहो कि पचासों आदमियोंमें कुछ इज्जत तो हो जाती है, अरे वे पचासों भी विनाशीक हैं, मायारूप हैं, अपवित्र हैं और उनमें चाहने वाली इज्जत भी मायामयी है, विनाशीक अपवित्र है। कौनसा लाभ हुआ? धर्मकी ओर दृष्टि नहीं है तो लाखों और करोड़ोंकी सम्पदा भी मेरे पतनके लिए है और वर्तमानमें भी मेरा पतन है और धर्मदृष्टि है तो चाहे भीख मांग कर भी पेट भर लो। धर्मदृष्टि होने से वह आत्मा पवित्र है, शांति और संतोषका पात्र है। यों जिन्होंने आत्मतत्त्वको जानकर इसका अभ्यास कर लिया है उन पुरुषोंको बाह्यपदार्थोंमें अपने चित्तको डालनेमें क्लेश मालूम होता है और अपने आपके स्वरूपमें जाननरूपके उपायसे बसे रहनेमें आनन्द मालूम होता है।

निरुपद्रव स्थानसे बाहिर गमनकी निरुत्सुकता— जैसे सावनके

महीनेमें जब कि तेज मूसलाधार पानी बरस रहा हो, बिजली भी कड़क रही हो और कोई पुरुष ऐसे कमरेमें बैठा हो जहां पानी नहीं चूता है, आरामकी जगह है, उस पुरुषको बाहर जाना तो कष्टदायी मालूम होता है और कमरेमें बैठे रहना सुखदायी मालूम होता है। इसी तरह जब कि संसारमें सर्वत्र आपत्ति, धोखा, छल, स्वार्थ सारे उपद्रव बरष रहे हों और जिन उपद्रवोंके बीच अपनी जानका भी खतरा हो ऐसे इस उपद्रव बरष रहे जगतमें यदि मुझे कोई ऐसा आरामका स्थान मिल जाय--निज गृह, ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्माके तत्त्वका परिचय, यह आत्ममंदिर, यह बैठनेको मिल जाय है जहां कि विपदा छू नहीं सकती है, संकट आ नहीं सकता है, तो ऐसे परम विश्रामकी जगहमें बैठा हुआ मनुष्य बाहर क्या जाना चाहेगा ? उसे बाहर क्लेश मालूम होता है और अपने अन्तरङ्गमें सुख मालूम होता है।

आत्मानुभूतिके अभावमें विश्वकी बुभुक्षा— वास्तवमें तो आत्माका अनुभव ही आनन्दका कारण है, किन्तु जिसने अपने आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं किया उस पुरुषको आत्मभावनामें तो क्लेश मालूम होता है और इन्द्रिय विषयोंमें उसे सुख मालूम होता है। पूर्व संस्कार भी तो है ना, उसके कारण इसे विषयोंके सुख रुचा करते हैं। इस जीवने इस संसारचक्रमें भ्रमण करते हुए निरन्तर भ्रान्तिसे क्लेश पाया। इसकी चाह यह रही कि मैं सारे विश्वपर एक छत्र तक राज्य कर लूँ। इस उन्मादके कारण यह सारे विश्वको अपनाना चाहता है।

विषयचक्रमें उलझन— भैया ! यह मूढ जीव अपनाता क्या है, पञ्चेन्द्रियके विषयोंको भोगता रहता है। सो ये विषय तो नियत हैं, थोड़े हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द--पांच प्रकारके ही तो काम हैं, एक ले लो मनका काम, इज्जत चाहिए, लोगोंसे दो बोल प्रशंसाके सुननेकी धुन हो, लो यों ६ विषय हुए। यह जीव इन ६ प्रकारके विषयोंमें ही तो रात दिन लगा रहता है। ७ वां काम और क्या करता है ? इसकी दिनचर्या देखो— सुबह हुआ, मन बहलाया, मंदिर भी आया तो मन बहलानेका काम किया, जो लोग दिखे उनमें कुछ इज्जत चाहनेका काम किया। मंदिरसे चला-अब भोजनका काम किया। रसनाका विषय सेया। रसनाके बाद घ्राणका विषय सेया। कुछ चाहिए इत्र फुलेल सूँघना। फिर आंखोंका विषय सेया, फिर शब्दोंका विषय सेया। देखो--वे ही विषय रोज-रोज भोगे जाते हैं, पर यह उन विषयोंसे अघाता नहीं है। रोज-रोज ही प्रायः विषयोंको नवीन वस्तु मानता है।

अज्ञानका नाच-- भैया ! करे क्या यह ? अज्ञानकी चश्मापाटी इसकी विवेककी आंखों पर जड़ी हुई है। सो यह अंधा होता हुआ कोल्हू के बैलकी तरह उन्हीं ६ विषयोंमें चक्कर लगाता रहता है। यह कोई नया काम तो नहीं कर रहा है ? वही दाल रोटी कल खाया था, वही आज खाया और वही कल खावेगा तो भी वह नयासा ही मालूम पड़ेगा। खूब अच्छा नया सा स्वाद लगता है। यों ही इन पचेन्द्रियके विषयोंमें इस जीव ने भ्रमसे नई नई बातें समझीं और इतना ही नहीं कि केवल खुद ही विषयोंमें फसा रहा, किन्तु दूसरोंको भी इन विषयोंमें फँसानेका यत्न कर रहा है। इस ही यत्नमें अपना सारा समय व्यतीत कर डाला।

स्वप्नविलासमें परमार्थका तिरस्कार-- यह अपने आत्मामें विराजमान, अंतःप्रकाशमान, आनन्दनिधान, चित्स्वरूप बसा हुआ है किन्तु इसको इस जीवने नहीं देख पाया, क्यों नहीं देख पाया कि इसने अपने आपके कषायसमूहों को एकमेक कर डाला। जो मैं क्रोध कर रहा हूं वही तो मैं हूं। अपने आपकी की हुई बात गलत नहीं दिखायी देती है। यह अज्ञान बड़ा विकट अंधेरा है। अज्ञानके समान और क्या क्लेश कहा जायेगा ? स्वप्नमें सैकड़ों आदमी प्रशंसा कर डालें तो स्वप्न देखने वाला स्वप्नके समयमें बड़ा खुश हो रहा है, मगर वहां तो सब इन्द्रजाल है, मायारूप है, केवल कल्पनाकी बात है। यों ही इन आंखोंकी जगती हालतमें भी जो कुछ दिख रहा है, जो बर्तावा हो रहा है यह भी स्वप्नकी भांति है, मायारूप है, यह भी परमार्थ कुछ नहीं है। ऐसे इस सहज चित्विलासके देखे बिना जगत्में यह जीव भटकता है।

निजविश्रामका आग्रह-- देखो अपने आपमें अपने विश्रामको पाकर निहारो तो जरा, यह मैं उत्तम ज्ञानस्वरूप आनन्दमय हूं। अब इसको पानेकी कुछ तरकीब करिये। इसके प्रथम उपायके करते हुएमें कष्ट मालूम होगा। लेकिन जिसे इस आत्मस्वरूपका परिचय हो जाता है उसके लिए यह अत्यन्त सुगम हो जाता है। जिसे इसका परिचय नहीं है उसको यह अत्यन्त दुर्गम रहता है। जब कभी भी सुखी होनेका अवसर आयेगा तो इसही उपाय से आयेगा, ज्ञानानुभवके उपायसे ही आयेगा। अन्य प्रसंगों में क्या लाभ है ? अपना ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपको निहारता रहे तो इसमें मुझे लाभ है और बाकी तो सब यों ही जानो जैसे कि लोग कहते हैं कोयलाकी दलालीमें हाथ काले। अरे वहां कोयलाकी दलालीमें फिर भी कुछ मिलता है पर इस समागमकी दलालीमें कुछ नहीं मिलता और गांठका खोकर चला जाता है। जो बल था, विवेक था, दृष्टि करने की जो

कला थी वह सब समाप्त हो जाती है। यहांके विषयोंके प्रसंगमें उल्टी हानि ही होती है।

आन्तरिक स्वच्छताकी मूल आवश्यकता— हे आत्मन, थोड़ा थोड़ा लोगोंके कहनेके अनुसार अथवा बतानेके अनुसार कुछ धार्मिक प्रक्रिया करें, इसकी अपेक्षा तो यह प्रथम कर्तव्य है कि ज्ञानार्जन करके ज्ञानप्रकाश के अनुभव के द्वारा अपने आपके आत्माको स्वच्छ कर लिया जाये। कोई कारीगर या कोई चित्रकार भींतको स्वच्छ करनेमें महीनों बिताए और फिर किसी दिन चित्राम बनाया तो फिर वह चित्राम कितना मनको हरने वाला होता है। कोई ऐसे ही फूटी फफूड़ी भींत में चित्राम बनाए तो उसने समय भी खोया, श्रम भी बहुत किया, पर न चित्रामकी वहां शोभा है और न उसमें कुछ स्थायीपन है। यों ही अपने मनको शुद्ध किए बिना धार्मिक धुनमें हम श्रम भी कर डालें तो भी वहां कुछ लाभ नहीं मिलता है और ज्ञानार्जनसे और ज्ञानानुभवसे चित्तकी स्वच्छता बढ़ायी तो वहां लाभ प्राप्त होता है।

भैया! मत डरो, प्रथम ही प्रथम आत्माके हितके प्रसंगमें, ज्ञानके आचरणमें कुछ कष्ट होता है, उस कष्टसे मत डरो—ऐसा होता ही है, क्योंकि संस्कार पुराने बेहूदे चले आये हैं। आज एकदम सत्यतत्त्वमें निर्विघ्न कैसे प्रवेश हों? मत डरो, किन्तु यत्न यह करो कि कुमार्गसे हटकर हम सन्मार्गमें ही लग जायें।

वासनानुसारिणी प्रवृत्ति— भैया, क्या करें? कितना ही सिखाया जाय अपनेको, किन्तु प्रवृत्ति ऐसी हो जाती है, जैसी कि वासना हमारी पहिले समयकी भरी होती है। एक सेठके तीन लड़के थे। मगर तीनों थे तोतले और अन्य नगरमें एक और सेठ था, उसके तीन लड़कियां थीं। सगाईके खातिर उसने नाईको भेजा। पहिले सगाई नाईके माध्यमसे हो जाया करती थी। खवासजू की भी पद्धति हटी तो बाबा जी देखने जाते थे, फिर चाचाका नम्बर आया, फिर बापका नम्बर आया, अब तो वह भी पद्धति हटी। अब तो लड़का खुद ही सारी निगरानी करने जाता है। खैर, जब नाई आया तो सेठजी ने लड़कोंको खूब सिखा दिया कि देखो तुम लोग चुप बैठना, सगाई होगी, कोई भी कुछ कहे तो तुम बोलना मत। वे चुप बैठ गए।

सेठने उन्हें खूब सजा दिया। कोट, कमीज, टोपी, शृङ्गार, आभूषणसे खूब सजा दिया। नाईने जब उन्हें देखा तो नाई उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगा। वाह! ये लड़के तो इन्द्रकी जैसी मूर्ति हैं। इनके गुणोंको

क्या कहा जाए ? ये तो बड़े भाग्यवान् हैं, बड़े सुहावने हैं। इतनेमें एक लड़का कहता है कि ऊँह ! अभी टण्डन मण्डन (चन्दन बन्दन) तो लगाइ नहीं है, नहीं तो पड़े टुन्डर (सुन्दर) लगते। प्रशंसाके शब्द सुनकर वह फूला न समाया। दूसरा लड़का बोला कि पिटा (पिता) ने कई ती कि बोलो नहीं, टुप (चुप) रहो। तीसरा लड़का कहता है कि अरे ! टुप टुप। ओह, जैसी उन सेठके तोतले लड़कोंमें योग्यता थी, वैसा ही परिणमन किया। कहां तक बाहरी रूप सजाया जाए ? जो बात है, वह प्रकट हो ही जाती है।

गुप्तकी गुप्त साधना— हे मुमुक्षु आत्मन् ! धर्म तो करना है शान्ति के लिए, दिखावेके लिए धर्म नहीं करना है। दिखावे के लिए किया गया धर्म अधर्म ही है। धर्म कहां रहा ? जिस वृत्तिमें बाह्यपदार्थों पर दृष्टि है, उस वृत्तिको धर्म कैसे कहा जाए। खुदके समझनेके लिए धर्म है। अपने ही आपमें गुप्त रहकर गुप्त ही गुप्त इस आनन्दको पाया जाए तो यह धर्म हुआ और कुछ दिखावेकी बात की जाए तो उससे समय भी खोया, श्रम भी किया, धन भी खोया, लाभके बदले अलाभ मिला।

सम्यग्दृष्टिकी निःस्पृहता— जीव विषयोंके सुखकी चाह करता है, मनुष्य भी करता है, यह प्राकृतिक बात है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानीपुरुष दूकान जाता है तो कि किसलिए जाता है ? लूटनेके लिए जाता है या दो पैसे कमानेके लिए जाता है ? क्या उसकी चाह यह नहीं है कि मैं दूकान जा रहा हूं तो कुछ आमदनी हो जाए ? है चाह। सम्यग्दृष्टिके भी यथापद चाह रहती है, किन्तु धर्मधारण करके विषयोंके समागमकी इच्छा बनाए, इस धर्म एवजमें पैसेका लाभ हो अथवा अन्य लाभ हो--ऐसी कामना करे तो यह अधर्म हो गया।

वैसे तो सभी को चाह रहती है कि ज्ञानी गृहस्थ भी दूकान पर जाता है तो क्या यह नहीं मनमें सोचता कि कुछ आय बने, पर वह वहां लोकव्यवहृत नहीं किया गया है, पाप नहीं किया गया है, किन्तु वह एक मध्यम बात हुई है। न पुण्य हुआ, न पाप हुआ अथवा जैसा आशय है, उस आशयके अनुसार बात बनी। पर धर्मधारण करके एक पैसेकी भी इच्छा की जाए तो वहां सम्यक्त्व धारण नहीं हो सकता।

ज्ञानोन्मुख भाव— भैया ! पूजा भजन करके धन, स्त्री, पुत्र आदि मांग लेवे, इसे क्यों दोषमें शामिल किया है ? सुनिए, सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मको धारण करके सांसारिक सुखोंकी इच्छाको दूर करता है। सुख नहीं चाहता। वैसे चाहता है सुख किसी पद तक और वह भी निवृत्तिकी इन

भावनाओंको रखकर, पर धर्मके एवजमें लौकिक प्राप्ति नहीं चाहता है। जिससे आग बुझाई जाती है, वह जल ही यदि ज्वाला देने लगे तो फिर शमनका उपाय ही क्या ? जिसने इस लौकिक भावनाका अभी अभी ही अभ्यास किया है, उसे अन्तरकी यह तपस्या बड़ी कठिन मालूम होती है और जो भावना बहुत कर चुका, उसे सब सरल विदित होता है। हुआ जो कुछ है होओ, किन्तु निर्णय एक रक्खो कि आत्मज्ञान और आत्म-भावनामें ही हमारा हित है। इन बाह्य पत्थर, धन, वैभव, चांदी और सोना आदिमें सर मारनेसे हमारा आत्महित नहीं है।

तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भव।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

अध्यात्मसुखसिद्धिके उपायका वर्णन— इससे पहिले यह कहा गया था कि जिसने ज्ञानका योग पहिले-पहिले ही प्रारम्भ किया है उसको अपने आत्मामें टिकना कठिन लगता है और उसे बाह्यपदार्थोंमें लगनेमें सुख भी मालूम होता है और अपने आपमें रत रहनेमें उसे कष्ट मालूम होता है, किन्तु जिसने अपने इस ज्ञानमय स्वरूपकी बार बार भावना की है और इसका दृढ़ अभ्यास किया है, उसे बाहरमें लगना कष्टदायी मालूम होता है और अपने आपके आत्मामें स्थिर होना, रत होना सुखदाई मालूम होता है। ऐसी बात सुनने पर जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहा है तो ऐसी सिद्धि बनानेके लिए हमें करना क्या चाहिए ? इसके समाधानरूप मानो यह उत्तर दिया जा रहा है कि उस बातको बोलो, उस बातकी चाह करो, उस ही को दूसरोंसे पूछो और उस ही में लीन हो जावो, जिसके कारण यह आत्मा अविद्यामयस्वरूपको छोड़कर विद्यामयस्वरूपको प्राप्त हो जाए।

निजका परमें अनधिकार— इस जीवका अन्य कोई साथी नहीं है। साथी कोई हो ही नहीं सकता। वस्तुस्वरूप प्रत्येकमें अपना अपना है, अपना ही स्वरूप है, अपना ही परिणमन है, अपनेमें अपना ही अधिकार है। किसी भी जीवका किसी अन्य जीव पर अधिकार नहीं है, किन्तु अपने स्वार्थभावके कारण एक दूसरेसे लगे हुए हैं व उनकी गोष्ठी बनी हुई है। इस गोष्ठीमें कोई यह सोचे कि मैं अमुकको यों करता हूं या मेरे बल पर ही इन सबका जीवन है। इस बातको सोचना विचारना तो व्यर्थकी बात है।

तुम तो केवल अपने परिणामभर बनाते हो। विकाररूप बनाओ, शुभ बनाओ, अशुभ बनाओ, शुद्ध बनाओ, अपने परिणाम करनेके सिवाय

अन्य कुछ कार्य नहीं करते। प्रत्येक पदार्थ है, अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है, अपनेसे ही परिणमता है, किसी अन्यमें परिणमन नहीं करता है। ऐसे अपने स्वरूपास्तित्वसे सद्भूत प्रत्येक पदार्थ केवल अपना ही अपने आपका स्वामी है। जब ऐसा प्रत्येक जीवका, प्रत्येक पदार्थका स्वरूप है तो अब मेरा सुधार और बिगाड़ किस बाह्यपदार्थसे होगा ? मैं ही अपने भावोंको बुरा बनाकर विगाड़ कर लेता हूं और अपने ही भावों को शुद्ध बनाकर सुधार कर लेता हूं।

हितकर वचनसे लाभ— भैया ! जब हमको वचन व्यवहारमें लगना पड़ रहा है तो ऐसी बात बोलें जिस बातके बोलने से अज्ञानमय भाव तो हटे और ज्ञानमय भाव हो जाय अर्थात् आत्मस्वरूपका कथन करे। धन्य है वह वातावरण, धन्य है वह समागम, धन्य है वह सत्संग, जहां रहकर इस का उपयोग विशुद्ध रह सके और केवल अपने आपके प्रतिबोधमें सन्तुष्ट रह सके। ऐसी ही बात बोलना उचित है जिससे इस जीवका विद्यामय, आनन्दमय स्वरूप प्रकट होवे। विषय और कषायोंमें लगने की बात बोलने वाले इस जगत्में अनेक हैं। घरके लोग, मित्र लोग, रिश्तेदारजन प्रायः सभी इसे विषय और कषायोंमें लगाने वाले हैं। कोई रागकी बातमें लगाते हैं तो कोई द्वेषकी बातमें लगाते हैं, उकसाते हैं। ऐसे पतनके गर्तमें पटकनेके वचन दुनिया में बोलने वाले अनेक हैं, किन्तु ऐसे वचन दुर्लभ हैं जिन वचनोंको सुनकर अशुभ संस्कारका संताप दूर करले और अपने अध्यात्मज्ञान सुधारसका भान कर सकें। ऐसी ही बात हम दूसरोंकी सुनें और ऐसी ही बात हम बोलनेका यत्न करें।

संतापहर वचन— नीतिशास्त्रमें वचनोंकी शीतलताका ऐसा वर्णन किया गया है कि सज्जनोंके वचनोंमें ऐसी शीतलता भरी हुई है जैसी शीतलता न तो किसी नदीके जलमें है, न किसी चंदनमें है, न किसी बर्फ घरमें है। कोई पुरुष चिंतासे व्याकुल हो रहा हो, उसे बर्फके घरमें रखा जाय तो क्या वह बर्फ उसके चित्तको ठंडा कर सकती है ? नहीं कर सकती किन्तु भेदविज्ञानके वचन ज्ञानरूप ऐसी सामर्थ्य रखते हैं कि बड़ी चिंताएं भी हों तो वे सब शांत हो जाती हैं।

निरापद वचन— इस लोकमें चिंता ही क्या है ? चिंता बनायी जाती है, चिंता योग्य बात कुछ नहीं है। न रहा धन ज्यादा, इससे कौनसी हानि है ? मिला हुआ धन चला गया तो इसमें कौनसी हानि है आत्मतत्त्वकी ? अन्य-अन्य भी विपत्तियां सोच लो इष्ट वियोग हो गया, अनिष्ट संयोग हो गया तो इसमें कौनसी हानि इस आत्मतत्त्वकी हो गयी ?

लेकिन ज्ञानानन्दनिधान आत्मस्वरूपको भूलकर जो बाह्यपदार्थोंमें मोह बुद्धि लगाये हैं बस इसीसे दुःख होता। यह परिणाम ही दुःखस्वरूप है। उस दुःखको मेट सकने वाले जो वचन हैं उन वचनोंका सुनना और ऐसे वचनोंका बोलना यह ही है अध्यात्मिकतामें रमनेका एक उपाय। जिस वचनसे अज्ञान संस्कार मिटे और ज्ञान संस्कार बने, ऐसी ही बात बोलनी चाहिए।

वचनसामर्थ्य— जैसे किसी घरमें इष्ट पुरुषका वियोग हो जाय तो बहुतसे लोग समझाने आते हैं। उनमें से जो यों समझाते हैं अरे बड़ा अच्छा था, सबकी खबर लेता था, अब तो सूना सूना हो गया, तो इन शब्दोंको सुनकर उस गृहस्थ पुरुषको और दुःख हो जाता है और कोई यों समझाता है कि सब जीव न्यारे हैं, कौन किसका साथी है, अपने-अपने भाग्यसे आते जाते हैं, किसीका किसी पर अधिकार नहीं है, ऐसी बात कोई सुनाए तो वह गृहस्थ कुछ धैर्य धारण करता है। तो देखो वचनोंसे ही वह पुरुष अधीर हो गया था और वचनोंसे ही उस पुरुषमें धैर्य बन गया है। मनुष्यका धन एक वचन है।

सद्वचनव्यवहार— नीति कहती है 'वचने का दरिद्रता!' अरे वचनोंके बोलनेमें क्या दरिद्रता करना है? थोड़ी इतनी हिम्मत बनाओ मनमें कि कोई कषाय जगती भी हो तो उस कषायको पी लो, छुपा लो व वचन ऐसे बोलो कि जिन वचनोंको सुनकर आगे झगड़ा न बने और दूसरे सुखी हो जायें। थोड़ी ही देर बाद जो इतनी कषाय दबाई है सो ज्ञान-भावनासे अपने से उस कषायको दूर करलो। कषायोंको रखनेके लिए दबानेकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु वचनोंसे आगे विवाद न बढ़े ऐसी रवरक्षाके लिए कषायोंको दबाना ही चाहिए। बादमें ज्ञानभावनासे कषायों को दूर कर लेना चाहिये। मनुष्यके पास मात्र एक वचन ही धन है। बड़े विशाल नेता ज्ञानी संत जन और करते ही क्या हैं? एक वचनोंसे ही सही व्यवस्था और कल्याणमार्ग बना हुआ है। इस कारण वचन ऐसे बोलने चाहियें जिससे रागद्वेष मोह बढ़ाने वाली बात न आये, किन्तु संतोष शांति और ज्ञानप्रकाश बढ़ाने वाली बात आये।

दुर्लभ वचनका सदुपयोग— इस जीवको अनादिकालसे भटकते हुएमें अनन्तकाल तो एकेन्द्रियमें बीता, वहां तो बोलनेके लिए जिह्वा ही नहीं मिली, दो इन्द्रियां मिलीं, जिह्वा मिली तो भी कोई ठीक-ठीक भाषा न बोल सका, टें टें, चें चें ही कर सका। फिर यह जीव तीन इन्द्रिय हुआ, चार इन्द्रिय हुआ, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी हुआ, पशुपक्षी बना, तब तक भी

रूपका परिहार हो और ज्ञानस्वरूपमें हम पहुँच जाएँ। उसकी इच्छा करें कि जिसकी इच्छा करनेसे हम संतोष पा सकें। जगतके इन वैभवोंमें कौनसा पदार्थ इच्छा करनेके योग्य है? जब वह चीज पास है, तब इच्छाका भाव नहीं है।

आनन्द तो तब आता है कि जिस समयमें इच्छा करे, उसी समय चीज मिले, किन्तु ऐसा कहीं नहीं होता है। किसीको इच्छा और प्राप्तिके बीचमें अन्तर दो दिनका हो जाए, किसीको घण्टेभरका अन्तर हो जाए, किसीको एक सेकिण्डका ही अन्तर हो, कितना ही अन्तर हो, पर इच्छा और इच्छा की हुई चीजके लाभमें अन्तर अवश्य रहता है। पास हो और फिर उसकी कोई इच्छा करे, यह तो होता नहीं है, फिर बाह्यपदार्थोंकी इच्छा करना व्यर्थ है।

समीचीन इच्छा— भैया! इच्छा उसकी करे, जिसके प्रसादसे फिर इच्छाका संताप ही न रहे, वह है आत्मस्वरूप। आत्माकी रुचि करो। अब तक बहुतोंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की, स्त्रीको, पुत्रोंको, मित्रोंको, समाजको और बहुतोंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की, किन्तु अपने आपको जब प्रसन्न नहीं कर सका तो क्या है? यह जीव तो कितने ही प्रयत्न करे, पर व्यवहारमें भी यह दूसरोंको प्रसन्न नहीं कर सकता है और फिर अपने आपका प्रसाद अपने आपको न मिले तो अन्य श्रमोंसे लाभ क्या है? कोई पुरुष सबको प्रसन्न नहीं कर सकता।

भगवान् तीर्थंकरके समयमें भी, जबकि उनका तीर्थ चल रहा था, उपदेश चल रहे थे, अनेक भव्यजीव सम्यक्त्वका लाभ ले रहे थे, उस कालमें भी आधेसे अधिक लोग उनके विरोधमें थे और कुछ ही लोग उनके समर्थनमें थे। कौन किसको प्रसन्न कर सकता है? सज्जन यदि सज्जनोंको प्रसन्न कर सकते हैं तो दुर्जन तो अब भी उनके विरोधका आशय लिये हुए रहा करते हैं। दुर्जन यदि अपनी गप्पों सप्पोंसे दुर्जनका मन रमा सकता है तो सज्जनोंका चित्त तो नहीं रमा पाया। कौन पुरुष ऐसा है, जो विश्वमें सबको प्रसन्न कर सकता है? किसको प्रसन्न करनेकी इच्छा कर रहे हो?

सर्वलोकतोषकर यत्नका अभाव— बच्चोंके पढ़नेकी पुस्तकोंमें एक कहानी आती है कि एक पिता पुत्र घोड़ेके साथ कहीं अन्य नगरको जा रहे थे। पिता घोड़े पर बैठा हुआ था, पुत्र पैदल चल रहा था। तो एक गांवके लोग कहते हैं कि यह बाप कितना निर्दयी है कि अपने सुकुमार बच्चेको पैदल चला रहा है और आप घोड़े पर सवार है। गांव निकलनेके बाद

पिता बोला कि बेटा ! तुम इस घोडे पर बैठ जावो, लोग मेरा नाम धरते हैं। बेटा बैठ गया।

अब दूसरे गावके लोग कहते हैं कि यह हट्टाकट्टा बेटा कितना अविनीत है कि अपनेसे बड़ी उमर वाले बापको पैदल चला रहा है और खुद घोड़े पर सवार है। बेटा बोला कि पिताजी, अब क्या करे ? मेरा भी लोग नाम धरने लगे हैं। अच्छा, अब ऐसा करो कि दोनों ही घोड़े पर बैठ जावो, फिर कोई किसीका नाम न धरेगा। दोनों ही घोड़े पर बैठ गए। अब अगले गांवके लोग कहते हैं कि मालूम होता है कि यह घोड़ा मांगेका है, क्योंकि ये दोनों मोटे ताजे, हट्टे कट्टे इस दुर्बल घोडे पर बैठे हैं। अब फिर सोचा कि क्या करें ? क्योंकि अब भी लोग नाम धर रहे हैं। अब सोच कर कि पैदल चलें, पैदल चलने लगे। अगले गावमें पहुंचे तो गावके लोग कहते हैं कि ये दोनों ही मूर्ख हैं। अरे जब पैदल ही चलना था तो इस घोड़ेको साथ क्यों लिए जा रहे हैं ?

अब कहते हैं कि चार काम तो कर लिए— अकेला बाप बैठा, अकेला बेटा बैठा, दोनों मिलकर बैठे, दोनों पैदल चलें—ये चार काम तो हो गए। दो के अङ्ग चार होते हैं—जैसे सत्य असत्य दो बातें हैं। तो एक उभय बन गया, एक अनुभय बन गया। अब ५वी चीज क्या हो ? खैर ! सबको कोई प्रसन्न नहीं कर सकता और बाह्यदृष्टि करके सबको प्रसन्न करनेका विकल्प बनाना अपने जीवनके क्षणोंको व्यर्थ गंवाना है।

उत्तम चिन्तनाके लाभ— भैया ! अपना प्रसाद पाएँ, निर्मलता पाएँ, ऐसा मन बनाएँ कि जगतके सभी जीव सुखी हो। किसी जीवको मेरे निमित्तसे कुछ भी बाधा न हो, सब सुखी हों। कोई यदि मेरे पर शान जता कर सुखी होना चाहता है तो वह यों ही सुखी हो। कोई मुझे बुरा कहकर सुखी होना चाहता है तो वह यों सुखी हो जावो। मोहवश यह जीव बिना ही प्रयोजन दूसरोंके दुख की बात सोचा करता है। यह एक महान् अज्ञान का अन्धेरा है।

अरे ! तेरे सोचनेसे बाह्यमें कुछ हो नहीं जाता। जैसे कहानेमें कहते हैं कि कौवेके कोसनेसे गाय नहीं मर जाती है। जब सोचनेसे परमें कुछ बात नहीं बनती और यहां हो गया सारा सोचना क्रूर, तो खुदका बुरा अवश्य हो गया। पापका बंध हुआ, आकुलताका परिणाम हुआ और दुर्गति भी उसकी अब होगी। अच्छा सोच लिया तो यह अपना सुधार कर सकता है। पुण्यका बंध हुआ, वर्तमानमें सुखरूप परिणमन हुआ और आगे इसे सुगति भी मिलेगी।

कल्याणोन्मुख चिन्तनका आग्रह— अब केवल आत्मसे, सोचनेसे ही हमारा भविष्य निर्भर है तो हम क्यों न ऐसा आत्मचिन्तन करें कि जिस चिन्तनसे हम कल्याणके मार्गमें रहें और दुर्गतिसे दूर रहें। हम सबसे बोलें तो सबका भला सोचें, हम इच्छा करें तो सबके कल्याणकी इच्छा करें, जिसमें कल्याणकी भी इच्छा करें। ऐसी चाह करें कि जिस चाहके प्रभावसे अज्ञानका रूपक दूर हो और ज्ञानमय अवस्था हमारी प्रकट हो। यह सब अन्तरका काम है, गुप्त काम है, फल भी गुप्त रहता है। हम इस गुप्त वैभवके पानेके लिए बाहरमें बनावट और दिखावा करते हैं तो कैसे सिद्ध होगा?

आत्मचिन्तन— अहा! मुझे तो अनुभव चाहिए। ज्ञानभावना तो आनन्दका और आनन्दके अनुभवका साधन है। मैं देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र हूं। ऐसा हूं या, पहिले यह निर्णय कर लो। क्या मैं यह देह ही हूं? इसका निर्णय कर लो। थोड़ेसे चिंतन के बाद इसका स्पष्ट निर्णय हो जायगा कि मैं देहसे न्यारा हूं, ज्ञानमात्र हूं, मैं अपने आपमें पूरा हूं। जैसा प्रभु पूरा है, वैसा ही मैं पूरा हूं। मैं पूर्ण हूं और इस शुद्ध पूर्णसे जो भी बात बनती है, वह भी पूर्ण बनती है। इस शुद्ध पूर्णमें से यह पूर्ण प्रकट होता है। यह पूर्ण विलीन भी हो जाए तो भी यह पूर्णका पूर्ण बना रहता है। इस शुद्ध आत्माका किसी अन्यसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, तब फिर मैं मोहकी बात को क्यों सोचूं, क्यों विचारूं? अपने ज्ञानस्वरूपकी ही निरन्तर भावना को रक्खूं। मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मैं ज्ञानस्वरूप हूं—ऐसा उपयोग बने तो इसे ज्ञानसुधारसका स्वाद आ सकता है। अन्य विषयोंके स्वादमें कुछ लाभ नहीं है। एक निजज्ञानसुधारसका स्वाद लो, इसमें ही कल्याण है।

आत्मतत्त्वकी वाणी, पृच्छना व इच्छासे हित प्रेरणा— आत्माका सहजशुद्धआनन्द पानेके लिए क्या करना चाहिए? इस विषयमें यह श्लोक कहा गया है। सर्वप्रथम परस्परके कल्याणमार्गकी प्रेरणाके लिए वचन व व्यवहार आया करते हैं, उस वचन व्यवहारमें ऐसी सावधानी रखे कि वह बात बोले, जिस बातसे यह जीव अविद्यामयस्वरूपको त्यागकर विद्यामय अवस्थाको प्राप्त हो और ऐसी ही बातका उत्तर मांगें, जिस बातसे ज्ञान की दिशा मिले। हम ऐसी इच्छाको करें, जिसके प्रसादसे अज्ञानभावसे निवृत्ति और ज्ञानभावमें प्रवृत्तिकी प्रेरणा मिले।

आत्मतत्त्वके स्पर्शकी तत्परताका प्रसाद— अब यह बतला रहे हैं कि सर्व प्रयत्नपूर्वक उसीमें तत्पर रहें, जिसमें अज्ञानभावकी निवृत्ति हो

और ज्ञानभावकी प्रवृत्ति हो। उसी आत्मतत्त्वमें लीन हो। निज अन्तरतत्त्व में लीन होनेके उपायमें सर्वप्रथम अपने शरीरके व्यापारको रोकें। बाह्य-वचनों को रोकें, अन्तर्जल्पको रोकें, भीतरमें जो चाहकी तरंग उठती है उसको दूर करें और अपने उपयोगको इस ज्ञानस्वभावमें ही लगावें, ऐसी स्थितिमें जानने वाला भी यह ज्ञानी होगा और जो जाननेमें आ रहा होगा वह भी ज्ञानी होगा। जहां ज्ञाता और ज्ञान दोनों एक हो जाते हैं वहां इस जीवको स्वानुभव जगता है और उस स्वानुभूतिसे अविद्याका संताप दूर होता है और ज्ञानका प्रसाद प्रकट होता है।

ज्ञानभावनाका प्रताप— कल्याणके इच्छुक पुरुषोंको उस तत्त्वकी भावनामें लीन होना चाहिए जिस भावनाके प्रसादसे अज्ञानावस्थाको छोड़कर यह ज्ञानावस्थाको प्राप्त होवे। ज्ञानमें ज्ञान वह ज्ञान है जो ज्ञान ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान किया करे और ऐसे ज्ञानानन्दकी स्थिति ज्ञानमय अवस्था कहलाती है। मैं समस्त परद्रव्योंसे भिन्न हूं, केवल ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र हूं, भाव मात्र हूँ—ऐसी अन्तरमें बारबारकी गयी भावनाके प्रसादसे जो एक जाननमात्र परमविश्रामकी अवस्था होती है उसही को विद्यामय अवस्था कहते हैं। इस अवस्थाकी प्राप्तिका उपाय है अपने आप को ज्ञानमात्र भाते रहना।

ज्ञानभावनाके उपाय— यह ज्ञानभावना उसकी बना करती है जो इस तत्त्वकी अन्तरसे चाह किया करे। जिनको इस सहज आत्मतत्त्वकी चाह होती है वे कभी किसी दूसरेसे पूछते हैं तो इस आत्मतत्त्वकी बात को पूछते हैं। आत्मतत्त्वकी इस जिज्ञासा और पृच्छना करने वाले पुरुष अन्य समयमें भी कुछ बोलते हैं तो इस आत्मतत्त्वकी बात बोलते हैं। यों कल्याणके उपायमें बोलनेसे शुरू होकर और तत्त्वमें लीनता तक की बात इस श्लोकमें कही गयी है।

बोलकी संभालका आद्य स्थान— प्रथम ही प्रथम तो इस कल्याणार्थी का कर्तव्य है कि वह कम बोले और ऐसी बात बोले जिसके प्रसाद से यह अज्ञानमय आशयको छोड़कर ज्ञानमय अवस्थाको प्राप्त हो। ऐसी अटपट बातें बोलनेसे क्या लाभ है जिससे यह उपयोग और विक्षिप्त रहा करे, यत्र तत्र डोले। व्यर्थके जो संग हैं, अत्यन्त भिन्न जो परतत्त्व हैं उन परतत्त्वोंमें रुचि जगे, प्रीति उत्पन्न हो, ऐसे वचनोंके सुननेसे आत्मा का हित नहीं है, इसलिए बात वह बोलें जिसके बोलनेसे कुछ लाभ तो मिले। अलाभकी बात बोलनेसे, आत्माके अहितकी बात बोलनेसे, अन्य बातें करने से आत्माका बल हीन हो जाता है और जहां आत्मबल हीन

हुआ वहां नाना प्रवृत्तियां बन जाती हैं, उससे फिर यह विडम्बनाको प्राप्त होता है। सो ऐसी ही बात बोलें जिससे ज्ञानावस्था मिले।

वाक्संयम— भैया! सबसे पहिले बोलने पर कन्ट्रोल कराया गया है। जिसे कल्याणमार्गमें बढ़ना है उसे प्रथम बोलनेका संयम रखना चाहिए। जो उस ही तत्त्वकी बात बोलनेका अभ्यास रखता है वह किसी से पूछे तो उस ही को पूछेगा, उस ही की चाह करेगा, तत्त्व पश्चात् वह आत्मतत्त्वमें लीन होता है। मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानमात्र हूं, इसमें विधिकी भी बात कहना व्यवहार है और निषेधकी भी बात कहना व्यवहार है। मैं कषाय रहित हूं यह भी बताना पड़ता है उस तत्त्वके अपरिचितजनों को बोध कराने के लिए। यह मैं जो हू यह ही केवल बताइये, ऐसा कोई प्रश्न करे तो वहां निषेधकी बात नहीं कही जा सकती है। मैं कषाय सहित हूं यह तो बात है ही नहीं किन्तु कषायरहित हूं, यह भी स्वरूपको छूने वाली बात नहीं है। स्वरूप तो सहज ज्ञायकभाव है, वह जिसके अनुभवमें आया हो उसे तो इतने शब्द सुनते ही बोध हो जायेगा। जिसे अनुभव नहीं हुआ है वह ऐसे शब्द सुनकर भी आंखें निकालकर सुनेगा, क्या कहा जा रहा है?

रुचिके अनुसार दर्शन— इस आत्माके अनुभवकी बात यत्नसाध्य है। अपने अतःज्ञानमय पुरुषार्थके द्वारा साध्य है। उस ही तत्त्वमें लीन होना चाहिए जिसकी लीनताके प्रसादसे यह आत्मज्ञान अवस्थाको प्राप्त हो। जिसको जिस बात की रुचि होती है वह किसी भी प्रसंगमें हो बात उसही की छेड़ता है। जैसे किसीका इष्ट पुत्र खो जाय तो नगर भरमें कितना खोज किया करता है। जगह-जगह पूछता है। इस ही तरह जिसको आत्मतत्त्वकी रुचि जगी है और यह निर्णय हुआ है कि वास्तविक आनन्द तो एक ज्ञानमात्र अनुभूतिमें है, ऐसा वह पुरुष जिसे एक ज्ञानभाव इष्ट हुआ है वह इस ज्ञानभावके जाननेके लिए ही तो चर्चा करता है, पूछता है और उसकी बाट जोहता है। इसे वादविवादकी मनमें नहीं रहती है। मैं किसीको अपने मनकी बात समझा कर ही रहूं, अमुक लोग मेरी बात मानें, कही हुई बात गिर न जाय—ये सारे विकल्प अज्ञानमय अवस्थाके हैं। इस ज्ञानी पुरुषको तो ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी प्रकृति पड़ी हुई है।

अन्तरात्मत्वदर्शन— ज्ञानीसंत सहज भावसे उपदेश कर सकते हैं यदि जान बूझकर याने मैं लोगोंको ऐसा सुनाऊँ कि लोग यह समझें कि, हां यह बहुत ऊँची बात कह रहा है, ऐसा आशय मनमें हो तो वहां सहज यत्न नहीं हो सकता है। वहां तो सूचक बात भी प्रकट नहीं हो पाती है

जो सहजज्ञानका संकेत करे। समयसाररूपी मालाके द्वारा निज समयसार परमदेवको पूजिये, पर यह जान जाइये कि यह अभिन्न समयसारकी माला एक सहज क्रियारूपी हाथसे बनाई जा सकती है। बनावट अथवा जान बुझकड़ी करके यह समयसारकी फुलमाला नहीं गूँथी जा सकती है। जब आत्मामें ज्ञानभावकी दृष्टिका परमयोग बनता है तो उस परमयोग के प्रसादसे ही यह समयसारवशमें किया जाता है। मेरा प्रभु मेरे वशमें हो जाय, इसका यत्न है ज्ञानमय पुरुषार्थ। वशमें हो जाय इसका अर्थ यह है कि मेरी दृष्टिमें यह निरन्तर बना रहे। मेरे अकसे यह दूर न हो सके। ऐसे परमयोगके प्रसादसे अपने वशमें करने वाले इस समयसार परमदेवको समयसारकी फूलमालासे ही पूजा जा सकता है, उपासित किया जा सकता है। यों अपनी बहिरात्मदृष्टिको तो मिटाना चाहिए और अन्तरात्मदृष्टिको प्रकट करना चाहिए।

भेदविज्ञानका एक प्रकार— भैया! ज्ञानमें, यथार्थ परिचयमें अन्तर नहीं होता है। वस्तुस्वरूपके परिचयके विषयमें ज्ञानियों ज्ञानियोंमें अन्तर नहीं होता है। साधु तो पूरा भेदविज्ञान करे और श्रावक उससे आधा भेदविज्ञान करे और अविरत सम्यग्दृष्टि चौथाई भेदविज्ञान करे, ऐसी बात नहीं है। भेदविज्ञान तो जो सम्यग्दृष्टि अविरतमें है वही भेदविज्ञान प्रमत्तविरत साधुके है। प्रमत्तविरत साधुके संगमें रहने वाले जो शिष्य आदिक हैं उनमें उन्हें पूरा भेदविज्ञान रहता है और यहां सम्यग्दृष्टि अविरत जो कि बाल बच्चोंमें पड़ा हुआ है पूरा भेदज्ञान उसके भी रहता है। साधु जानते हैं कि यह शरीर भी परिग्रह है, मेरा नहीं है, ये शिष्यजन भी परिग्रह हैं, मेरे नहीं हैं, और यह मन भी परिग्रह है, मेरा नहीं है और ये शब्द वचन आदिक भी परिग्रह हैं, मेरे नहीं है। शिष्योंको उपदेश भी किया जाय तो उपदेशरूपमें ये सूत्र वचन भी परिग्रह हैं, मेरे तत्त्व नहीं हैं। ऐसे एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वके सिवाय अन्य समस्त विभावोंमें जो भेदविज्ञान करते हैं ऐसे साधुसंत पुरुषके जैसा परम भेदविज्ञान है वैसा ही परम भेदविज्ञान अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुषके भी होता है।

आत्मवेदियोंमें चारित्रकृत अन्तरकी संभवता— भैया! अन्तर तो केवल उस ज्ञानमें स्थिर होने का है, चारित्र होनेका है। स्वरूपसंबोधनमें अकलंकदेवने चारित्रका लक्षण कहा है कि उत्तरोत्तर होने वाली जो दर्शन और ज्ञानकी परिणतियां हैं उन परिणतियोंमें स्थिर होना, उनका स्थिरता से आलम्बन हो इसका नाम चारित्र है अथवा सुख और दुःखमें मध्यस्थ होना इसका नाम चारित्र है। चारित्रका लक्षण कहीं फलित रूपसे कहा है,

कहीं परिस्थिति रूपसे कहा है। अन्तर चारित्रका होता है, पर सम्यक्त्व और प्रयोजनभूत मोक्षमार्गका ज्ञान यह प्रत्येक सम्यग्दृष्टिके होता है। इसमें मनुष्योंकी बात तो दूर रहे, जिन पशुवों और पक्षियोंको सम्यग्दर्शन होता है उनके भी आत्मप्रयोजक भेदविज्ञान वैसा ही है जैसा कि साधुसंत पुरुषोंके होता है। वे मुखसे कुछ बोल नहीं सकते हैं पर जैसे हंसकी चोंच मे दूध और पानी जुदा जुदा हैं—ऐसे ही प्रत्येक ज्ञानियोंके उपयोगमें आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व जुदा जुदा हैं। उसी तत्त्वकी भावनाओंमें लगो, जिस भावनाके प्रसादसे अज्ञानमय अवस्था छूटती है और ज्ञानमय अवस्था प्रकट होती है।

शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्व पृथगेषां निबुध्यते ॥५४॥

अज्ञानी और ज्ञानीके उपयोगका रोपण— पहिले श्लोकमें आत्मतत्त्वकी लीनताके लिए बहुत प्रतिग्रह किया गया है। उसको सुनकर जिज्ञासुके मनमे यह बात आती है कि इस आत्माको अलग कहां निरखें? सामने तो शरीर और वचन उपस्थित है। व्यवहार होता है तो वचनोंसे। और सम्बन्ध होता है तो इस शरीरसे। शरीर और वचनोंको छोड़कर अन्य कुछ आत्माका अस्तित्त्व मालूम नहीं होता है। किसकी चर्चा करें? उस जिज्ञासामें समाधानस्वरूप यह श्लोक आया है कि वचन और शरीरमें जिसको भ्राति हो रही है अर्थात् जो वचन और शरीरके यथार्थस्वरूपको नहीं पहिचानते हैं, बहिरात्माजन वचन और शरीरमें आत्माको धरते हैं, आरोपित करते हैं।

यह मैं हू, किन्तु वचन और शरीरसे भिन्न ज्ञानानन्दमात्र समस्त भारोंसे रहित आकाशवत् निर्लेप भावस्वरूप निजतत्त्वका जिसे परिचय होता है, शरीर और वचनमें जिसे आत्मा माननेका भ्रम ही नहीं रहा है— ऐसे पुरुष इस शरीर और वचनके स्वरूपको इस आत्मासे पृथक् देखते हैं।

दृष्टात्माका सहजदर्शन—भैया, जिसने इस आत्मतत्त्वको देख लिया, उसे जरासी नजरमें यह आत्मतत्त्व दिख जाता है। जो आत्मतत्त्वको नहीं देख पाया, वह इन्द्रियका व्यापार कर करके हैरान हो जाता है। कैसा है यह मेरा आत्मा? ज्ञानी जानता है कि यह शरीर पुद्‌गलकी रचना है। आहारवर्गणाके सूक्ष्मस्कंधोंका पिंड होकर यह शरीरका रूप बनता है तथा यह वचन भी पुद्‌गलकी रचना है। संयोग और वियोग के कारण भाषावर्गणाके स्कधोंमें जो वचनरूप अवस्था बनती है, वह वचन है। शरीर

और वचन दोनों ही पौद्गलिक है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले हैं। ज्ञान-रूपादिक मैं नही हू। वह तो बहुत विलक्षण आश्चर्यजनक एक ज्ञानज्योति हैं। शरीर जड़ है। यह कुछ नही जानता है, किन्तु यह मै आत्मा जानन-स्वरूप हू, अमूर्त हूं, समस्त पुद्गलोंसे अत्यन्त भिन्न हू—ऐसा जिन्हें भी परिचय है, वे ज्ञानीपुरुष शरीर और वचनको निजआत्मतत्त्वसे पृथक् निहारते हैं।

ज्ञानस्वभावमें ज्ञानोपयोगकी एकरसता-शरीर और वचनमें आत्म-बुद्धि रखना ही तो अज्ञान है। यह ज्ञान जब ज्ञानस्वरूपमे फिट नहीं बैठता है तो यह डावांडोल रहता है। कैसे फिट बैठे ? अन्य कोई स्थान इसके फिट नही बैठना है। जैसे नमककी डली पानीमें डालने पर घुलकर एकरस हो जाती है, उसका पृथक् व्यक्तित्व नजर नहीं आता है। इस ही प्रकार यह उपयोग सहजस्वभावमे घुलकर एकरस हो जाता है। वहा यह कोई भी ऐसा भेद नहीं रह पाता कि लो यह मै जानने वाला हूं और इस मुझने इस गुणको जाना, ऐसा भेदभाव नहीं रहता है, ज्ञान ज्ञानमें पहुंचकर एकरस हो जाता है।

भ्रान्त और अभ्रान्तका भवितव्य— ज्ञानको शरीर और वचनमें फंसाना अज्ञानभाव है। बहिरात्मा पुरुष कुसंस्कारोंके वशसे इन जड़ बाह्य-पदार्थोंको आत्मा मानता है, किन्तु अन्तरात्मा पुरुष थोड़ीसी भीतरकी गुप्तकलाके प्रसादसे जिनको कहनेके लिए कोई वचन नहीं हैं। थोड़ा झुके निजकी ओर निःशंक होकर, किसीको साथ न लेकर थोड़ा परमविश्राम किया तो इस आत्माको अपने आपमे उस ज्ञानस्वरूपका दर्शन होता है। जिसने वचन और शरीरमे 'यह मैं हूं' ऐसा भ्रम किया है, वह तो संसार में रुलता है और जिसे भ्रम नहीं है कि मैं तो ज्ञानमात्र हू और इसी तरह की अपने आपमें उपासना करता है, वह मुक्तिके निकट है।

स्फुट हितबोधन— यहां किसीको कुछ दिखाना नहीं है। पहिले इस ही का निर्णय कर लो कि हम अपनी कोई कला, कोई चतुराई दूसरोंको दिखा दे तो इससे कुछ अन्तरमें लाभ भी है क्या ? किसे दिखाते हो ? यहां तुम्हारा कोई प्रभु बैठा है क्या ? अरे जैसे तुम खुद संसारमें भटकने वाले एक प्राणी हो, इसी तरह संसारमे भटकने वाले ये दृश्यमान् सभी लोग हैं। इनको तुम कुछ दिखाना चाहते हो ? मै इतना धनी हूं, मै इस नगरमें सर्वप्रथम धनी हूं, ऐसा किसको बताना चाहते हो ? अव्वल तो किसीको बता नहीं सकते हो और मान लो कदाचित् कि बता भी दिया तो इसका फल क्या होगा ?

जीवके जिस समय जिस प्रकारका उदय होता है, उसके अनुसार जीवनमरण सुख दुःख उसके स्वयमेव होता है। जो पुरुष किसी एक पुरुष के द्वारा दूसरोंको कुछ कर देगा, इस तरह देखता है, समझता है, वह पुरुष संसारके बंधनोंमें जकड़ जाता है।

ज्ञानीका विशद भेदविज्ञान— यहां भेदविज्ञानी पुरुष स्पष्ट आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वमें भेदविज्ञान कर रहा है। अज्ञानी ही एकमेक माने तो माने, परन्तु ज्ञानी तो सबसे निराला जो एक ज्ञायकस्वरूप है, उस को ही आत्मा समझता है। वह पुरुष शरीरको शरीर समझता है, वचन को वचन समझता है, आत्माको आत्मा समझता है। किसी एकका दूसरे के साथ मिलान नहीं है। यहां मनकी कुछ चर्चा नहीं की जा रही है, इसका कारण यह है कि मन दो प्रकारका है— एक द्रव्यमन है और दूसरा भावमन।

द्रव्यमन यद्यपि भिन्न वर्गणावोंसे रचा गया है। जिन वर्गणावोंसे यह शरीर रचा गया है, उनसे नहीं, किन्तु उनसे भी जो सूक्ष्म हैं—ऐसी भिन्न मनोवर्गणाएँ उनसे रचा गया है, फिर भी द्रव्यमन शरीरका एक अङ्ग है। द्रव्यमनको शरीरमें ही शामिल कर लो। अब रहा भावमन। तो भावमन तो तर्क वितर्क विचार ज्ञानका नाम है। सो भावमनको सुधारनेके लिए ही तो यह चर्चा की जा रही है। ज्ञानी पुरुष शरीर और आत्मासे पृथक् अपने आत्मतत्त्वको प्रकट निहारता है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

इन्द्रियके विषयोंमें ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जो आत्माके क्षेम, कल्याण, सुखको उत्पन्न करे। फिर भी यह बालक अर्थात् अज्ञानी जीव उन इन्द्रियोंके विषयोंमें ही अज्ञानभावनासे रमा करता है। इन्द्रियां पांच होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। इनका विषय भी एक एक जुदा जुदा है अर्थात् पांच स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द। जगत्में जो कुछ भी उपयोगमें आ रहा है, वह इन ५ विषयोंमेंसे कोई विषय उपभोगमें आ रहा है। निश्चयसे तो उन विषयोंको आश्रय भेद बनकर अपनी कल्पनासे अपनी कल्पनाएं ही भोगमें आया करती हैं, किन्तु वे कल्पनाएँ जिन विषयोंका निमित्त पाकर उत्पन्न हुई हैं, उन विषयोंमें उपचार करके कहा जाता है कि यह अज्ञानी पुरुष इन्द्रियके विषयोंको भोगता है और उन इन्द्रियके विषयोंकी कल्पनामें जब यह जीव रहता है तो विषयोंसे आत्मा को कल्पनामें एकमेक कर डालता है यह अज्ञानी।

इसलिए कहा गया है कि यह जीव इन्द्रियके विषयोंको भोगता है, पर उन विषयोंमेंसे कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जो आत्माको क्षेम तो करे। पहिली इन्द्रिय स्पर्शन है। स्पर्शन इन्द्रियके भोग हैं। जाड़ा गरमी मिटाना भोग है, पर विकारभावोंकी अपेक्षा कामवासना यह स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है। मनुष्य यौवन अवस्थामें कुछ विवेक नहीं रख पाता है और स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें लीन रहता है।

फल यह होता है कि जब अवस्था ढल जाती है, तब वृद्धावस्थामें इसे यह दिखता है कि हमने समय बेकारमें गवाया, किन्तु आज हाथ कुछ भी नहीं आया है, बल्कि आत्मबलभी घटा, कर्मोंका कितना बंध भी हुआ। सब तरहसे लुट गया, पर हाथ कुछ नहीं लगा है। लुटने पिटनेके बाद जो बुद्धि अक्ल आया करती हैं, वह अक्ल यदि लुट पिटनेसे पहिले आये तो इस जीवका कितना कल्याण हो? साहित्योंके ग्रन्थोंमे इस कामकी वेदना और विडम्बनाके सम्बधमें बहुत बहुत वर्णन है। कामबाणसे बिंधा हुआ पुरुष कितना व्याकुल रहता है? उसे न खाना रुचता है और लम्बी बड़ी श्वास खींचता है और अन्तमें बहुतसी विडम्बनावोंके कष्टके पश्चात् मरण को प्राप्त होता है।

स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें कौनसा विषय इस जीवको क्षेम करने वाला है? रसनाइन्द्रियके विषयको कहते हैं-खाया, खोया, बह गया। लोग रसना इन्द्रियके लोभमें आकर कितना तो श्रम करते हैं और कितनी आपत्तियां उठाते हैं। बहुत विडम्बनाओंके पश्चात् एक दो सेकिण्डका सुख पैदा होता है। जितनी देर जीभ की नोक पर वह विषय आया है, उतनी ही देर तो उसे कुज मौजसा मिलता है। उस कल्पित मौजमें वह आदतको भी खराब करता है और अपने स्वास्थ्यको भी खराब करता है। सात्विक भोजन रहे, पकवान मिठाई आदि गड़बड़ चीजें न रहें तो यह कितने ही कष्टोंसे बच जाए, बीमारियोंसे बचे और डाक्टरका जो विशेष व्यय लादा जाता है, उससे बचे और धर्मधारणमें भी इसका चित्त सही बना रहे आदि लाभ हैं। यह तो है लौकिक लाभ।

परमार्थ लाभ यह है कि निज ब्रह्मस्वरूपकी दृष्टिका वह पात्र रहा करता है। थोड़े समयको वह भोजनविषयक सुख है। देखो तो वही एक बेसन है, उसे बूँदी बनाकर खायें, अलग भुजिया बनाकर खायें, अलग नमकीन सेव बनाकर खाएँ, अलग पपड़ियां बनाकर खायें। इस जिह्वामें कैसी कला भरी है कि कैसे-कैसे, जुदा-जुदा स्वादोंको यह लेती रहती है? यह क्या बात है? सब एक मामला है। भोजन रस अवश्य है। खाया,

पेट भरा, खाया, खोया, वह गया। शान शौकतमें और भोजनकी ऐसी शानमें जो व्यय किया जाता है, यदि ऐसा जीवन रहे कि रहन सहन तो वैसा हो, जैसा कि न अधिक धनी, न अधिक गरीब, सधर्मी, पड़ौसी लोग किया करते हैं।

अच्छा तो रहे रहन सहन और पुण्यके उदयमें यदि लक्ष्मी आ पड़ती है तो उसे दानके सदुपयोगमें लावे। इससे लाभ क्या होगा? पैसा क्यों जोड़ रहे हैं लोग? लाभ हो गया, फिर भी तृष्णा क्यों? कितना ही धन बढ़ जाए, फिर भी निषेध क्यों नहीं करते कि अब इसका सचय न करें? क्या वजह है? वजह यह है कि मैं इस दुनियामें शानदार पोजीशन वाला अच्छा कहलाऊँ। इतनी बातके लिए इतना सारा श्रम किया जा रहा है।

क्यों भैया जी! उस धनको यों अटपट न खर्चा जाए, किन्तु दानमें, उपकारमें, संस्थामें इन सब बातोंको लगाया जाए तो दुनियामें क्या बड़ा न कहलायेगा? अरे, इसमें तो कीर्ति बहुत दिनों तक रह सकती है और उसमें कीर्ति तो क्या, लोग पीछे गालियां देंगे कि इतना धनी है, मगर है पूरा मक्खीचूस। उस धनके संचयमें कहां कीर्ति मिली, लेकिन तृष्णामें यह जीव सत्पथको भूल जाता है। हां तो रसना इन्द्रियके विषयमें यह जीव रत होकर पाप बँध भी करता है, अपनी तृष्णा भी बढ़ाता है और स्वास्थ्यका अलाभ भी करता है।

कौनसा विषय ऐसा है, जिस विषयमें इस आत्माका हित हो? अथवा मान लो सात्विक ही खाया और उससे ही हित है तो खाये खायेमें ही कहां तक पूरा पड़ेगा? पूरा तो तब पड़ेगा, जब द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि तीनों प्रकारके बंधनोंसे छुटकारा मिले। इस जीवनमें साधन तो अच्छे मिल गए कि घर बैठे ही किराया आ रहा है, ब्याज आ रहा है अथवा दूकान भी ठीक चल रही है, बड़ा मौज हो रहा है, सारा खर्चा भी बड़ी शानसे चल रहा है। सारे सुखके साधन हैं, फिर भी इनसे क्या इस आत्माका पूरा पड़ जाएगा? इससे ही तो आत्माका पूरा नहीं पड़ जाएगा।

कब तक इस तरहसे दिन कटेंगे? मानों इस जीवनभर भी इसी तरहसे दिन कट गए तो मरणके बादमें क्या यहांका कुछ साथ न जाएगा? एक धेला भी मरणके समय साथ न जाएगा। साथ भी जाए, पर मरकर चींटी चींटा हो गए तो फिर वह किस काम आएगा? क्या फिर इस जीव का पूरा पड़ेगा? इस जीवका पूरा तो ज्ञानभावनासे ही पड़ेगा। मैं ज्ञान-

मात्र हूं। भूल जावो शरीरके बोझको और इसे खत्म भी करो। अपने उपयोगमें मेरा शरीर भी चिपका है, यह भी ख्याल न रहे—ऐसा अन्दर अन्दर विहार करके एक ज्ञानज्योतिमात्रको निरखो। मै ज्ञानज्योतिमात्र हू—इस भावनामे वर्तमानकालमें भी आनन्द है और आगेके कालमें भी आनन्द है।

तीसरी इन्द्रियका विषय गध है। इत्र सूँघ लिया, सेण्ट लगा लिया, कोटकी कालरों पर भी कुछ इत्र लगा लिया, फुवा लेकर कानमें लगा लिया, सुगंध आ रही है, गुलदस्ता सामने है, बागमें घूम रहे हैं, मन भी बहला रहे हैं। अरे ऐसे कहां तक पूरा पड़ेगा? आज गंध अच्छी मिली है, कल गंध न मिली तो यों दुःखी हो गए। अगर गंधमे ही खूब रहे तो गधका सुख तो दूर हो जाता है, फिर गंधका सुख नहीं रहता है। इन विपयोंके भोगने की आसक्ति, इन विषयोंके भोगनेका आनन्द तो तब होता है, जब विषयोंका त्याग बहुत दिन तक रहे।

जो जीव कामके व्यसनी हैं, वे कुछ ही समय बाद अनेक रोगोंसे ग्रस्त हो जाते हैं। वे फिर कामसेवनके योग्य भी नहीं रहते हैं। जो बहुत काल तक ब्रह्मचर्य रखते है अथवा जो बहुत दिनों तक कामसेवन नहीं करते, उनमें कामसेवनकी शक्ति रहती है अन्यथा वे बिल्कुल बरबाद हो जाते है। भोजनकी भी बात देखो कि कुछ समय तक भोजनका त्याग कर दिया गया तो भोजन रुचेगा, पचेगा, अङ्ग लगेगा और कोई खाता ही रहे तो उसे महीनो तक मूँगकी दाल और रोटी बतायी जाएगी। हिसाब तो सब ठीक है, चाहे २ दिन खूब पकवान खा लो और चाहे १० दिन मूँगकी दाल पर रहो और चाहे रोज रोज सात्विक भोजन करते जावो मौजसे। पैसोंका हिसाब ठीक बैठेगा।

भैया! भोजनमें रुचि तब मिलती है, जब उस भोजनका कुछ त्याग करें। सभी विषयोंकी यही बात है। उन विषयोंके भोगनेकी सामर्थ्य तब मिलती है, जब उनका कुछ त्याग करें। इत्र बेचने वाले लोग अपनी दूकान पर ८ घण्टे बैठे रहते हैं। हम तो समझते हैं कि उन्हें इत्रमें मजा रहता होगा, क्योंकि सुगन्धका भी आनन्द तब आयेगा, जब गंध विषय का कुछ काल तक त्याग करें। आपकी नाक पर गुलाबका फूल अगर २०, २५ मिनट धरा रहे तो आप थक जायेंगे। उस गंधको सूंघना फिर आप पसन्द न करेंगे।

चौथा विषय है आंखका रूप। क्या रूप किसीकी पकड़में आता है? रूपको डिब्बीमे कोई बंद कर सकेगा क्या? यदि ऐसा कर सको तो

जब आप बम्बई जा रहे हों तो अपने बाल-बच्चों और स्त्रीके रूपको संगमें ले जावो। काहेको आप उनका वियोग सहे ? अरे रूप तो बाहर खड़े खड़े देख लो। इतनी ही बात बनेगी और हाथ लगावो तो रूप न मिलेगा, वहां स्पर्श मिलेगा। जो केवल बाहरसे दिखनेमात्रकी बात है, उसमें और क्या है ? उस रूपमें पुद्गल आदिके रूप हैं तो वहां कोमलता, कठोरता, रूखा-पन, स्निग्धता आदि बातें साथ होंगी। और क्या होगा ?

इस मनुष्यगतिकी पर्यायका यदि रूप है तो होगा—क्या अन्दर मिला ? मात्र हड्डी, पसीना, थूक, नाक। जिस मलको देखने से लोग घृणा करते हैं, थूकते हैं वही मल प्रत्येक शरीरके अन्दर भरा हुआ है और जिस हड्डीसे घृणा करते हैं वह हड्डी भी इस शरीरके ही अन्दर है। किसी रूप को देखकर, मुखको देखकर ऐसी कल्पना तो करो कि यह पतला-पतला चमड़ा और मांस यदि न होता तो इसकी शकल कैसी होती ? जैसी मरघटमें पड़ी हुई खोपड़ीकी शकल। कल्पना करके क्या नहीं देख सकते हैं ? असाररूप जब कल्पनासे सर्वस्व सार मालूम पड़ सकता है तो यहां तो यथार्थ कल्पना करायी जा रही है। क्या वह मरघटकी खोपड़ी जैसा चित्रण ज्ञानमें न आ सकेगा ? रूपमें भी क्या सार है और किस विषयमें सार है, कौनसा विषय आत्माका हित करने वाला है ? कुछ भी तो सोचो।

अब कर्णोंका विषय देखो—शब्द सुन लिया, भला लग गया। अब जहांसे जिस पुरुष अथवा स्त्रीने वे शब्द सुने हैं उसके आधीन बनो, सेवक बनो। फिर उन शब्दोंकी ओर बाट जोहो। इच्छामें, प्रतीक्षामें बाट जोहने में क्लेश ही क्लेश है, आनन्द कुछ नहीं है। कौनसा विषय ऐसा है जो इस जीवको सुखकारी हो सके। इन्द्रिया को छोड़कर मनकी भी बात देखो। मनका भी कोई विषय इस आत्माका क्षेम कल्याण करने वाला नहीं है। मनके विषयमें प्रमुख शब्द है प्रशसा। जो मनुष्य आपके वश न होता हो उसे प्रशसाका विषपान कराकर बेहोश करके अपने वश कर लो। बहुत सरल तरकीब है। किसीसे अधिक परेशानियां क्यों उठाते हो ?

वह मेरा विरोधी है, वह मुझसे कषाय रखता है। अरे क्यों तड़फते हो, क्यों परेशान होते हो ? थोड़ी ही तो तरकीब है। स्तवन, प्रशंसा कर बेहोश कर अपने वश बना लो। कहते हैं कि कोई गुड़से न मरे तो विष खिलावो। जब संसारके ये प्राणी गुड़से मरनेके लिये तैयार बैठे हैं तो इन्हें विष खिलाने की योजना क्यों बनायी जाय ? सारा संसार इस कीर्ति यश, प्रशंसा की तृष्णामें मनके विषयमें ग्रस्त है। ये विषय भी अहितकर हैं। अच्छा किसी एक व्यक्तिकी एक दो घटा लगातार प्रशसा तो करते

जावो। देखो वह ऊबता है या नहीं? आखिर वह यही कहेगा कि अब प्रशंसा मत करो भाई। अब नहीं सहा जाता है। कितना ही कोई प्रशंसा का भूखा हो, लगातार प्रशंसा सुनही नहीं सकता। इससे यही मालूम होता है कि प्रशसा भी एक झंझट है। तो कौनसा विषय ऐसा है जो आत्मामें क्षेम उत्पन्न करे।

यह पूरा जगत् ज्वारियोंका अड्डा है। जैसे ज्वारियोंकी मंडली कहीं पर जुवा खेलती हो और मानो कोई घरसे २० रुपये ही लाया हो, उसमें से १५ रुपया हार गया तो अब वह सोचता है कि ५ ही रुपये शेष बचे हैं, उनको लेकर अब घर चला जाऊ, तो संग वाले कहते हैं। बस हो गये, इतना ही दम था। किसी तरहसे उसे उठने नहीं देते हैं, और मान लो २० रुपये वह जीत गया तो वह चाहता है कि अब २० रुपये जीत लिए, अब घर चले जायें तो खेलने वाले उसे उठने नहीं देते। वे कहेंगे कि तुम तो बड़े खुदगर्ज हो, आ गये हाथमें पैसे बस चल दिये। जब तक वह पूरा लुट पिट न जाय तब तक उसे उठने नहीं देते हैं। सो यहां पुण्यके फलमे, जीत पापके फलमें हार माना जाने वाला यह ज्वारियोंका अड्डा है। यहां सब ये ही ज्वारी खेल रहे है।

भैया! पुण्यका फल मिला तो मान लेते हैं कि मेरी जीत हो गयी है, कोई पापकी बात आये तो मान लेते हैं कि मेरी हार हो गयी। सो पुण्य पाप, हार जीत की जहां बाजी लग रही है ऐसे इस लोकमे यदि कोई प्राणी किसी समय ज्ञान और वैराग्यकी कुछ झलक आये और चाहे कि मैं यहांसे हटकर कुछ आत्महितमे लगूँ तो ये घरके लोग, पड़ौसके लोग, रिश्तेदार लोग, ये ज्वारी लोग उसे ऐसी बात कहते हैं कि वह यहांसे उठ न सकेगा। लुट पिट कर मरे और जाय तो जाय, पर जिन्दा तो सही न जाय। ऐसा यहां का बर्ताव है अथवा दूसरेके बर्तावको क्या बुरा कहा जाय? यह खुद ही उन बातोंको चाहता है और कुछ ज्ञान और वैराग्यकी बातें करता है तो वह अन्य लोगोंसे प्रशंसा लूटने के लिए करता है। जब खुद ही इतना चाव भरे हैं तो दूसरों को क्या दोष देना? इन विषयोंमें कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो इस जीवका कल्याण कर सके, किन्तु देखो इतने पर भी यह बालक अर्थात् यह मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानभावके कारण उन ही विषयोंमें रति करता है। यों खेदपूर्वक आचार्य यह शिक्षा दे रहे हैं कि इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति मत करो।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

महती विपदा— मोहके प्रेरे प्राणी अनादिसे लेकर अब तक खोटी योनियोंमें ही चिरकालसे भ्रमते हुए अंधकारमें सोये हुए हैं और उन अनात्मीय पदार्थोंमें ये मेरे हैं, इस प्रकारका दृष्टि रूप जागरण कर रहे हैं। अपने से भिन्न परपदार्थोंमें ऐसी श्रद्धा होना कि यह मेरा है, इससे बढकर जगतमें और कोई दूसरी विपदा नहीं है, यह व्यर्थकी विडम्बना है। जिस प्रसंगमें अपने हाथ कुछ नहीं आना है, अतमें रीते ही रह जाना है, ऐसी जो थोती कल्पनाएँ हैं इन कल्पनाओंमें यह सारा जगत परेशान हो रहा है। समस्त परपदार्थोंसे भिन्न अमूर्त ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्व का अनुभव बने, तो यही है वास्तविक धर्मपालन।

ज्ञानियोंकी दया— भैया! मोहियोंकी चेष्टापर ज्ञानीको दया आती है। हो गया कोई करोड़पति तो धनके लिप्सु तो उसको महत्त्व देंगे जो स्वयंकी लालसा बढायेंगे, किन्तु ज्ञानी पुरुष यों देखता है कि देखो तो, है तो यह ज्ञानमात्र एक चैतन्य पदार्थ, सबसे न्यारा, किसीसे भी इसका सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कैसी दृष्टि बन रही है इन बाह्य जड़ पुद्गल ढेरोंमें कि यह मेरा है इस भ्रममें इसका निरन्तर कर्म बध हो रहा है--बाह्यपदार्थों में यह मेरा है ऐसी श्रद्धामें, ऐसे संस्कारमें निरन्तर पापबध हो रहा है। ये मोही जीव इसी पद्धतिको लिए हुए हैं और इसी कारण इन्हें खोटी योनियोंमें भ्रमण करना पड़ रहा है।

चिरकालीन विडम्बना— इस जीवका आदि निवास निगोद अवस्था है जहां एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म और मरण होता है। दस लाक्षणीके अङ्गपूजनमें कहते हैं ना, दमरी रूँगन भाग बिकाया। यह जब प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति बना अर्थात् मोटी पत्ती वाली भाजी बना और लोग दमरी की भाजी खरीदते थे, सो उसके रूँगनमें जितनी पत्तियां डाली उनमें अनन्तजीव चले गये। अब तो लोग दमरीका नाम ही नहीं जानते। एक दमरीमें कितना ही साग आ जाता था और आवश्यकताके लायक चीज एक दमरीमें मिल जाती थी और बादमें भी थोड़ी भाजी दे देते थे। कहते कि लो यह तुम्हें रूँगन दे दिया। रूँगन कहते हैं कोई चीज खरीद लेने के बाद प्रयोगात्मक एक ऐहसानका आभार प्रदर्शन करना। भाई तुमने हमारा सौदा लिया है, तुम्हें धन्यवाद है, इतना तुम और ले लो। उस रूगनमें जो पत्ती आयी है उस पत्तीमें अनन्तानत जीव आ गये, ऐसे हैं साधारण वनस्पतिके जीव। एक दमरीके रूँगनमें इतने जीव आये। ऐसी ऐसी खोटी योनियोंमें यह जीव सोया हुआ है, अंधकारमें लीन है।

प्राणीकी दयापात्रता— यहां यह मोही प्राणी ऐसा जानता है कि

हम बड़े चतुर हैं, हम इतनी दुकान संभालते हैं, ऐसी सुन्दर व्यवस्था बनाते हैं, मुझमें बड़ी चतुराई है, पर ज्ञानीकी दृष्टिमें वह दयाका पात्र है, अपने आपके आनन्दनिधान चैतन्यप्रभुको बरबाद किये जा रहा है। जीव निगोदसे निकला तो बन गया पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येकवनस्पतिकाय। निगोद तो साधारण वनस्पतिकाय कहलाता है और जो निगोदरहित हरी है जो व्रतियोंके लिए भक्ष्य हैं उन सबको कहते हैं प्रत्येकवनस्पति, और इतना ही नहीं, जो हरी खानेमें आ सकती है, देखनेमें आ सकती है, अव्रती जिसे खाये वह भी प्रत्येकवनस्पति है। अन्तर इतना है कि अभक्ष्य प्रत्येकवनस्पति तो सप्रतिष्ठित है, साधारण सहित है और व्रतियोंके भक्षणके योग्य साधारणरहित प्रत्येकवनस्पति है। आजकल लोकमें ऐसा प्रसिद्ध है कि आलू, शकरकंद आदि चीजें साधारण वनस्पति हैं। अरे साधारण वनस्पतिका तो शरीर दिखनेमें भी नहीं आता, छूनेमें भी नहीं आता। आलू वगैरह साधारण वनस्पतिसहित प्रत्येकवनस्पति हैं और अन्य पदार्थ तोरई आदिक ये साधारण वनस्पतिरहित प्रत्येकवनस्पति हैं। तो दूसरी रूपमें भाग दिखाया। जो चीज भक्ष्य है वह भी छोटी अवस्थामें साधारणसहित रहती है और अत्यन्त कोमल भिंडी, तुरई, लौकी हर एक चीज अत्यन्त जब छोटी होती है जरूर उस समय साधारण सहित होती है।

कि बेटी समयकी खबर न थी। ओह सेठ साहब सब बातें सुन रहे थे। और अपने मनमे बहुत क्रुद्ध रहे थे कि सुनने वाले लोग क्या कहेंगे कि कैसी बेवकूफ बहू लाये। इतने में फिर मुनि बोले--बेटी तुम्हारी उमर कितनी है? लो अब साधुवोंको उमर पूछने से क्या मतलब? तो वह बहू जवाब देती है महाराज मेरी उमर ५ वर्षकी है। फिर पूछा कि तुम्हारे पति की उमर कितनी है? तो बहू बोली कि पतिकी उमर ५ महीनेकी है और ससुरकी उमर? महाराज ससुर तो अभी पैदा ही नहीं हुए हैं। अच्छा आजकल तुम ताजा खा रही हो या बासी? बहू बोली महाराज बासा ही खा रहे हैं। सेठ यह सब सुनता हुआ अपने मनमें बड़ा दुखी हो रहा है। सोचता है कि दोनों समय तो कढाही जलती है, ताजी पूड़ियां बनती हैं और यह कह रही है कि बासी खा रहे हैं। और हमें कहती है कि अभी पैदा ही नहीं हुए। साधु महाराज तो चले गए। अब सेठ बहूके ऊपर बिगड़ने लगा। बहूने कहा कि वहीं मुनि महाराजके पास चलो, सारा निर्णय वहीं हो जायेगा। दोनों वहां पहुंचे। तो क्या निर्णय हुआ सो सुनो।

उक्त प्रश्नोत्तरोंमे शिक्षा-- बहू ने यह देखा था कि वे मुनि थे छोटी उमरके, सो पूछा कि मुनिपदमें तुम इतना जल्दी क्यों आ गए, इतने सवेरे क्यों आ गये? तो मुनिने यह जवाब दिया था कि समयकी खबर किसी को नहीं है कि कब मरण हो जाय? सो खबर नहीं थी इस कारण बहुत जल्दी आ गये। ठीक है, पर यह बतावो महाराज! आपको बहूकी उमर पूछनेका क्या मतलब था और बहूने कैसा उल्टा जवाब दिया? तो वहा यह निष्कर्ष निकला कि बहूको ५ वर्षसे धर्मकी श्रद्धा हुई, लौ लगी। सो बहू यह कह रही थी कि हमारी नो असली उमर ५ वर्षकी है। पहिले के २० वर्ष तो मेरे व्यर्थमें गये। मैं उसे असल की उमर नहीं मानती और पतिको ५ माहसे धर्मकी श्रद्धा हुई, सो उनकी असलकी उमर ५ माहकी है। अब देखो वहां ससुर साहबको गुस्सा बढ रही थी कि हम तो नीचा देख रहे हैं, यहां तो सारा मामला फिट होता जाता है। ससुरने कहा महाराज! हमें तो यह बताती है कि अभी पैदा ही नहीं हुए। बाल हमारे सारे सफेद हो गये और बहू कहती है हमें कि अभी पैदा ही नहीं हुए। तो बहू कहती है—महाराज देखो ये अभी तक भी लड़ रहे हैं, बतावो इन्हें पैदा हुआ कौन कहेगा, अभी तक इनकी समझमें नहीं आया। धर्मकी वासना अभी तक इनके नहीं जगी तो इन्हें पैदा कैसे कहें? ठीक है, मगर ताजा बासाका क्या मतलब? तो बहूने बताया कि सेठ जी अब कुछ नया

धर्म तो नहीं कर रहे हैं, जो पूर्व जन्ममें ही करके आये थे, उसके ही पुण्य के प्रतापसे आजकल सब आराम भोग रहे हैं।

वास्तविक जीवन— सो भैया! जीवन तो वही है जो जीवन धर्म से बसा हुआ हो। धर्मरहित मनुष्य हो कोई, झूठ बोलता हो, परस्त्रीगामी हो, वेश्यागामी हो, निर्दयी हो, अवगुणोंसे लदा मनुष्य हो तो उसे न वर्तमानमें चैन, न कोई भविष्यका ठिकाना, ये ही तो कुयोनियां हैं। धर्मकी वासना मिले, सत्सग मिले, उत्तम बात विचारनेको हो, सुनने को हो, बोलने को हो, उससे बड़ा और सौभाग्य क्या? जीवन तो वही है। यह मूढ़ आत्मा बड़ी दुर्लभ मनुष्य अवस्थाको भी प्राप्त कर लेता है, किन्तु यहां भी अपनी कलाका उपयोग विषयवासनामें लगाता है। तो यों मूढ प्राणी चिरकालसे इस गहन अंधकारमें सो रहा है। परपदार्थोंसे इस जीव का कुछ लेन देन नहीं है, परपदार्थ अपनेमें परिणमते हैं, यह जीव अपने में परिणमता है लेकिन परपदार्थोंमें यह संकल्प हो जाना कि यह मेरा है, यह ही है इस जगत् पर घोर संकट। ऐसी सकटमय अज्ञानग्रस्त जिन्दगी क्या जिन्दगी है?

पराधीनता— भैया! अनुभव करके देखलो जितना अलग अपने अपनेको अनुभव करेंगे उतनी तो शांति होगी और जितना दूसरोंसे मिला हुआ हू ऐसा अनुभव करेंगे बस वही अशांति है। कहते तो हैं सब लोग कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं, करि विचार देखेहु मनमाहीं।' पराधीन दशामें सुख नहीं होता है, किन्तु उस पराधीनताका अर्थ इतना ही लगाकर तुष्ट हो जाते हैं—दूसरोंके वश हो अथवा न हो, कोई चीज न मिलती हो, उसकी बाट जोहते हो, किसी परवस्तुको तरसते हों, दूसरेके हाथमें अपने खाने पीने इत्यादि की बातोंको यह जीव मानता है कि यह पराधीनता है। और क्यों जी, खूब सम्पदा है, आय भी खूब हो रही है, घरके लोग भी अनुकूल हैं, सारे ठाठ और आराम है, वह पराधीन है या नहीं? अरे वह भी पराधीन है और कहो उस प्रथम व्यक्ति से भी ज्यादा पराधीन हो। उसके राग बढ़ रहा है, स्नेह हो रहा है, अपने आपके महत्त्वको खो रहा है, अपना सर्वस्व समर्पण करके लुट रहा है। प्रतीतिमें, मोहमें, स्नेहमें जैसे लोग बोल देते हैं—हमारे तो तुम्हीं सब कुछ हो अर्थात् मै अपने लिए अपना कुछ नहीं रहा। इतना तक अपने आपको समर्पण कर देते हैं और फिर भी यह मोही जीव उस सम्पदामें यह मानता है कि मै स्वाधीन हूं और दूसरे पराधीन हैं।

पराधीनताकी तुलना— कुछ वर्तमानमें भी तुलना कर लीजिए। एक

पुरुष सर्विस की आजीविका करता है और एक पुरुष दुकानकी आजीविका करता है। इन दोनोंमें से लोग तो यह कहते हैं कि सर्विस वाला पराधीन है और दुकान वाला स्वाधीन है, पर अनुभव करके देखलो लोकदृष्टिसे सुखकी निगाहसे सर्विस वाला स्वाधीन है अपेक्षाकृत उस दूकानदारके। सर्विस वालेने तो काम किया, उसे उनमें ममता नहीं है। किया काम फिर पीछे उसका ख्याल नहीं, कर्तव्य निभाया और अपन मौजमें है, पर यहां तो रात दिन सोचना पड़ता है, इसीके सपने हैं। कुछ घाटा हो जाए, कुछ कमी हो जाए, इसका क्लेश है। न भी कुछ कमी हो जाए तो भी कल्पनाएँ करके क्लेश बन रहा है। यहां पर यह निर्णय नहीं दे रहे हैं कि कौन स्वाधीन है और कौन पराधीन है? यहां तो सभी पराधीन हैं। जब इन्द्रियके विषयोंसे प्रेम है, विषयसाधनोंसे मोह है, तब तक यह जीव पराधीन है।

पराधीनता और परेशानी— जो पराधीन है, वही परेशान है। परेशानका क्या अर्थ है? है तो यह उर्दू शब्द, पर सस्कृतमें अर्थ लगा लो इसका—पर ईशान है। ईशान मायने मालिक अर्थात् जो परको अपना मालिक समझे, उसे परेशान कहते हैं अथवा जिसने परको अपना स्वामी माना है, उस पुरुषका नाम है परेशान। जहां किसी परको स्वामी मान ले, वहाँ तो सारी हैरानी है। इससे बढ़कर और क्लेश जगत् मे कुछ नहीं है कि है तो नहीं मेरा और मान रहे हैं कि मेरा है। सबसे महान् पाप सबसे बड़ा भयङ्कर, सबसे बड़ी विपदा आदि इतने परिणामको कहेंगे। है तो भिन्न और मान लिया कि मेरा है, यह बात आरामसे प्रायः सुन ली जाती है, किन्तु वह कितना दुःखी है, इसे दूसरा क्या जाने परपदार्थोंको कि ये मेरे हैं—ऐसा मानना ही दुःखका कारण है। जो प्राणी परपदार्थोंको अपना मानता है, वह कितना दुःखी है? कितना पापमें डूब रहा है? इसकी असली खबर ज्ञानी पुरुषको ही होती है और उनको उस पर बहुत करुणा उत्पन्न होती है।

परमकरुणा तीर्थंकरप्रकृतिका बध कराने वाली करुणा है। देखो संसारके समस्त जीव स्वरूपदृष्टिसे तो प्रभुवत् चैतन्यमात्र शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हैं, किन्तु क्या अवस्था हो रही है भ्रमके कारण से? चीज कुछ भी नहीं है और इतनी अत्यधिक दुर्दशाएँ हो रही हैं केवल एक मिथ्या कल्पनाके कारण।

न कुछका डर— चैत वैसाखके महिनेमें, जबकि गेहूं कटा करते हैं, शामके समय खेत काटने वाले चैतुओंसे खेतके मालिकने कहा कि जल्दी

चलो, अंधरी आ रही है। हमें जितना डर शेरका नहीं है, उससे अधिक डर अंधेरीका है। यह बात शेरने सुन ली। शेरने सोचा कि अरे मुझसे भी कोई डरावना प्राणी अंधेरी होता है। सब लोग तो घर चले गये। अब वहां शेर डर रहा था कि कहीं अंधेरी न आ जाए। उसी समय किसी एक कुम्हार का एक गधा गुम हो गया। सो अंधेरी रातमें ढूंढते-ढूंढते वह कुम्हार शेरके पास पहुंचा। उसने समझा कि यही हमारा गधा है, सो उसका एक कान पकड़ा, दो चार डण्डे जमाए और बोला कि अरे मैं ढूंढते ढूंढते परेशान हो गया, तू यहां आकर छिपा है। शेरने समझ लिया कि आ गयी अंधेरी।

अब जैसा चाहा, उस तरहसे उसको पकड़ कर वह कुम्हार ले गया। अरे बताओ कि वह अंधेरी क्या है? उसके हाथ हैं, पैर हैं, क्या है? कुछ भी तो उसमे नहीं है, मगर यह ख्याल बन गया। ऐसा बलवान् शेर भी कुम्हारके चगुलमें फंस गया।

भ्रमका उन्माद— यों ही जगत्में प्राणियोंका यह ख्याल बन गया है कि यह मेरा है। इस सकल्पका बोझ शिलासे भी अधिक है। इस मुझ पर कोई शिला भी पटक दे तो वह भी अच्छा है। इस अमूर्त आत्माका वह शिला क्या बिगाड़ेगी? उस शिलासे भी भयंकर बोझ इस आत्माका यह है कि अन्य पदार्थोंमें यह कल्पना जग गयी है कि यह मेरा है। यह तो अपने विचार और अनुभवसे जान लो कि कैसा रग चढा हुआ है, अपना टूटा फूटा घर है, उसमें ममता लगी है कि यह मेरा है। यहां इतनी मिट्टी निकल गई है, इसे फिरसे लीप दें, ठीक कर दें। दूसरेका घर खण्डहर पड़ा हो तो उसके ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं। यह जान लिया है। अपने कुटुम्बके बच्चे को और सदस्योंको निरख कर कैसा मोहीजनोंको श्रद्धान् होता है कि ये मेरे सब कुछ हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है। लोग जानेंगे कि यह मेरा सब कुछ है। अरे लोग क्या जानेंगे? लोग तो असलमें केवल निन्दा ही करते हैं।

यदि कोई कह दे कि आप इन्हें पहिचानते हैं, ये अमुक सेठ जी हैं, इनके चार लड़के हैं—एक मिनिस्टर है, एक कलेक्टर है, एक इन्सपेक्टर है और एक डाक्टर है। उसके कहनेका मतलब यह हुआ कि सेठजी कोरे बुद्धू हैं। इनके लड़के बड़े अच्छे हैं। अर्थ तो यह निकला, पर ममता से वह सेठ मान लेता है कि इसने मेरी बड़ी प्रशंसा की।

स्वतन्त्रताकी दृष्टिका आदर— भैया! कोई किसीकी प्रशंसा क्या करेगा? यदि अपने अतःगुणोंको देखो तो किसीमें सामर्थ्य नहीं है कि

मेरी कोई प्रशंसा कर सके। मैं तो महतो महनीय हू, उस स्वभावको कोई पहिचानता नहीं है। पहिचान भी जाए तो उससे कोई बोलता नहीं, उससे कोई व्यवहार करता नहीं। जब मै दोनों दोषो पर दृष्टि डालता हूं तो मैं कुछ प्रशसाके योग्य ही नहीं हूं। परपदार्थोमें 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि बन जाए तो यह है घोर अंधेरा। प्रभुसे प्रार्थना करो, अपने अन्त प्रभुसे भी भावना करो कि हे नाथ! कुछ भी कष्ट आयें, कुछ भी विपदा आयें, विपदा तो प्रिय हैं मुझे। इन विपदावोंसे तो कुछ सूझ मिलेगी। रागकी नींदमे सोये हुए प्राणी को विपदा जगाती है। विपदा आये अच्छा है, किन्तु परपदार्थोमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका सकल्प मत जगो। एक यह मोहभाव न रहे तो आत्माको शांतिका पथ मिलेगा।

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियान्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥५७॥

स्वपरविवेचक दर्शन— अपने आपको समाधिभाव ही परम शरण है-ऐसी प्रतीति रखने वाला अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानीसंत अपने आपको प्रतिबोध रहा है और ऐसे ही भव्य जीवोंको भी यह प्रतिबोधन कर रहा है कि हे कल्याणार्थी आत्मन्! तू देखता तो है देहको, चाहे अपने देहको देख रहा हो, चाहे परके देहको देख रहा हो, पर इस देखनेके प्रसगमें तू इस तरहसे जान कि यह जो मेरा देह है ऐसा यह वास्तवमें मैं नहीं हू, अर्थात् यह देह मैं नहीं हूं और इसी तरहसे जब तू दूसरे देहोंको देखता तब भी यह समझ कि ये अन्य देह भी ये अन्य आत्मा नहीं। जैसे इस देहमें रहता हुआ भी यह देह मैं नहीं हूं इस देहसे मैं न्यारा हूं, इसी तरहसे जब तू दूसरे देहोंको देख तब भी यह समझ कि इन अन्य देहोंमे रहते हुए भी ये देह भी अन्य आत्मा नही है। 'ये दूसरे जीव भी इन देहोंसे न्यारे हैं। ऐसा देखनेसे तू आत्मतत्त्वमें व्यवस्थित हो जायेगा।

निःसंकट आत्मस्वरूप— भैया! इस लोकमे संकट एक नहीं है। हम आप सबकी बात कही जा रही है। जो संज्ञी जीव होते हैं, जिनके मनका सयोग है उन जीवोंकी बात कह रहे हैं। हम और आपको संकट एक नहीं है किन्तु जब हम अपने शीलको खोकर परवस्तुको अपनाते हैं, उन्हें अपनी मानते हैं बस वहीं इतनी कल्पनामें संकटोंका जाल बिछ जाता है। क्या है संकट इस जीवको? मानते जावो संकट और अपने सामने धरते जावो। कोई घरका इष्ट पुरुष मर गया है, लो इस सकटको भी सामने रख लो कुछ धन नष्ट हो गया है, चोर धन चुरा ले गये हैं, इन सकटोंको भी सामने रख लो, नुकसान हो गया है, टोटा हो गया है, लोगों

ने अपमान कर दिया, गाली दे दिया, इन सारे संकटोंको अपने सामने रख लो और अब जरा धीरेसे अपने आपके प्रभुसे मिलकर यह भी दर्शन करलो कि यह मैं आत्मा आकाशकी तरह निर्मल अमूर्त किन्तु ज्ञानानन्द मात्र सबसे न्यारा हूं। यह मैं आत्मा तो उतना ही हू जितना कि मेरा स्वरूप है। इतना ही मै हूं और इतना ही रहूंगा। जरा अपने आपके इस प्रभुताईके दर्शन करलो, वे सारे सकट जो बहुत दिनोंमे इकट्ठे हो पाये थे वे सब एक ही साथ दूर हो जाया करते हैं।

सुगम स्वाधीन अपूर्व साहसकी आवश्यकता— भैया! सकट और विश्रामकी पद्धति और है ही क्या? केवल विचारोंकी ही तो बात है, एक अंतरंग साहसकी ही तो बात है। एक यों ही थोड़ी पुरानी घटना सुनते हैं कि बुन्देलखण्डमें किसी राज्यमें राजाके यहा एक पहलवान आया। जो सब जगह कुश्तियां खेलता हुआ, जीतता हुआ आया और राजासे बोला कि आपके सुभटोंमे से यदि कोई पहलवान हो तो हम कुश्ती करने आये हैं। सभी लोग बैठे थे। किसी सुभटको हिम्मत न हुई तो एक दुबला पतला गांवका आदमी खड़ा होकर बोला, महाराज हम इससे लडे गे। सब लोग देखकर आश्चर्य करने लगे कि एक धक्केमें जो गिर पडेगा ऐसा दुर्बल यह कह रहा है कि मैं लड़ूँगा। हा महाराज मैं लड़ूँगा, संदेह क्यों करते हो? अच्छा भाई, नामकरण हो गया, यह कुश्ती खेलेगा। तो वह दुबला पतला बोलता है कि मै इस तरह न लड़ूँगा। १५ दिनकी इसे मोहलत दे दो, नहीं तो यह हार जायेगा तो कहेगा कि हम थके थे सो हार गये। पहिला रोब तो यों जमाया। १५ दिनकी मोहलत उसे दे ही गई। तो अब जब समय आया तो कहा ऐसे न लड़ेंगे, पहिले यह अपनी चेत करे, नहीं तो बहाना बनायेगा कि हमारी असावधानी मे ऐसा हो गया कि हार गये। और भी एक दो बातें ऐसी कहीं कि उसके दिलको आधा बना दिया और फिर थोड़ी ही देरमे अपने दाहिने हाथको पहलवानकी आंखोंके सामने से निकाल कर उसके पैर पकड़कर उसे पछाड दिया। साहसकी ही तो बात है। यहां हम आप दुःखी हो रहे हैं रात दिन, साहस करलें तो फिर यहा कोई दुःख ही नहीं है।

सकटहारी निःसंकट साहस— अच्छा, संकट मेटनेके लिये क्या साहस कर ले? सच्ची बात मान लें, कोई लाग लपेट नहीं रखना है, कोई विडम्बना वाली बात नहीं करना है किन्तु जो यथार्थ बात हो उसे मानें। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, केवल जाननस्वरूप हूं, जितने पृथक् मुझसे अन्य सब जीव है उतने ही पृथक् घरमें आये हुए ये दो चार जीव है। जितने

पृथक, जगतके और सब धन वैभव हैं उतना ही पृथक् जिसको अपना मान रक्खा है वह सब वैभव है। ऐसी एक हिम्मत बनानी है, इसीसे सुख है, आनन्द है। देख जब तू दूसरे देहोंको देख ले तब इस तरहसे देख कि ये सब देह जुदे हैं और इनमें बसने वाला आत्मा न्यारा है। जैसे कोई मकान को यह कह दे कि यह सेठ जी खडे हैं तो कितनी भद्दी बात है, ऐसे ही इस देहको ही हम यह कह दे कि यह मैं हूं व ये दूसरे आत्मा हैं, यह भी उतनी ही भद्दी बात है। घरमें रहने वाला सेठ जैसे घरसे जुदा है और कोई घरको निरख कर कहे कि यह सेठ जी खड़े हैं तो कितनी अपमान की बात है ? ऐसे ही इस देहको देखकर यह क्यों कह रहे हो कि यह मैं बैठा हूं, यह मैं खडा हू। जैसे घरमें रहने वाला सेठ घरसे न्यारा है ऐसे ही देहमें रहने वाला यह मैं आत्मा देहसे न्यारा हू।

देह और आत्माकी परस्पर विलक्षणता-- भैया ! इस देहके जितने भी वाचक शब्द हैं उन शब्दोंका अर्थ देखो तो उससे ही नि सारता मालूम होती है। देह उसे कहते हैं जो ढेर रूप बन जाय। शीर्यते इति शरीर। जो शीर्ण हो, गल जाय उसे शरीर कहते हैं। संचीयते इति कायः। जो संचित किया जाय, खुद यों नहीं है उसे काय कहते हैं। तो समझ लीजिए कि ये सब मायामय हैं, ये सब शुरूसे भी कुछ नहीं हैं, ये कोई परिपूर्ण स्वतत्र तत्त्व नहीं हैं, किन्तु यह मैं समस्त विश्वका जाननहार ऐसा उत्कृष्ट व्यवस्थापक अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा हूं।

अन्तस्तत्त्वकी झलकका आनन्द-- इस आत्माके अत स्वरूपका वर्णन किया जाना बड़े-बडे ज्ञानियोंको भी कठिन पड़ता है। हम आप सरीखे मंद बुद्धि वाले उनके विषयमें क्या कह सकें ? केवल एक दिशाका अवलोकन जरूर किया जा सकता है। चाहे हम वर्णन न कर सके किन्तु इसका दर्शन हो जाय तो वर्णन करने वाला और वर्णन न कर सकने वाला यह मैं दोनोंको ही स्वाद समान ही आयेगा। कोई भोजनमें क्या-क्या बना है, कैसा पकाया है आदि व्यवस्थाका वर्णन न कर सके और भोजन करे तो उसे भी वह स्वाद आयेगा जो भोजनका बहुत बहुत वर्णन करके स्वाद ले रहा है। तो जिसके एक दिशाके अवलोकनमें भी अतुल आनन्द भरा है ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व इस देहरूप नहीं, किन्तु देहसे जुदा हूं।

दृष्टान्तमें मजहबी नामोंमें हितशिक्षण-- इस आत्माको कितने ही शब्दोंसे कहो वे सब आत्माकी महनीयता बताते हैं। जैसे कि धर्मके जितने भी नाम हैं वे सब नामधर्मकी महनीयता बताते हैं। जैसे शैव जो शिव स्वरूप हो उसे शैव कहते हैं। शिवका अर्थ है कल्याण। जो कल्याणस्वरूप

को अनुभवे, जाने उसे शैव कहते हैं। इस शब्दने भी परमशरणभूत निज अंतस्तत्त्वका संकेत किया। वैष्णव जो विष्णु स्वरूपको माने उसे वैष्णव कहते हैं। विष्णुका अर्थ है जो सर्वत्र व्यापक रहे। व्याप्नोति इत्येवं शीलः विष्णुः। खूब जानो, खूब देखो, ऐसा कौनसा तत्त्व है जो सब जगह व्याप कर रह सकता है? वह तत्त्व है ज्ञान। इस समय आपका ज्ञान कहां तक फैला होगा? यदि बम्बई वगैरहकी चिंता हो गई होगी तो बम्बई तक आप का ज्ञान फैल गया और इसी आंगनमें आपका चित्त लगा है तो इतने आंगनमे ही आपका व औरोंका भी ज्ञान फैल गया। कहीं किसी ज्ञानसे किसी ज्ञानकी टक्कर तो नही लग रही है? यह ज्ञान स्वभावतः असीम है। इस ही ज्ञानस्वरूपका नाम विष्णु है, इसकी जो श्रद्धा करे, उसे ही वैष्णव कहते हैं।

ईसाईः— जो ईशकी भक्ति करे, ऐसे लोग ईसाई कहलाते हैं या ईसाई मजहबको कहते हैं। ईश नाम समर्थका है। जो समर्थ हो, प्रभु हो, गुणविकासमे परिपूर्ण हो, उसकी भक्ति करने वाले ईशाई कहलाते हैं। शब्दोंमें देखो तो एक उपदेशकी दिशा मिलती है। यह बात दूसरी है कि अपने शब्दोंके मुताबिक कोई आचरण रक्खे अथवा न रक्खे। मुसलमान मायने मुसले ईमान अर्थात् जो अपनी सच्चाई पर कायम रहे, वह है मुसलमान।

सच्चाई क्या है? जो वस्तुका स्वरूप है, उस सही स्वरूप पर कायम रहे, विपरीत आशय न बनाये। देखो शब्दोंसे कितनी शिक्षा मिल रही है? जैन— जो रागादिक शत्रुओंको जीते, रागद्वेषकी स्फूरणा न होने दे, उसे जिन कहते है और जिनोपदेशको जो माने, उसे जैन कहते हैं। सनातन कहते हैं अनादि अनन्त तत्त्वको, जिसका न कभी आदि है और न अन्त है। ऐसा तत्त्व कौन है? हम आप सभी का स्वभाव दृष्टिसे ही निरखा गया अन्तस्तत्व यह सनातन है। इस सनातन तत्त्वकी दृष्टि हो तो उसे कहते है सनातनी। जैसे मजहबोंके शब्दोंमे एक एक शिक्षा भरी हुई है। यों ही आत्मस्वभाव के वाचक जितने शब्द हैं, उन शब्दोंमे भी शिक्षा बसी हुई है।

आत्माके अर्थमें हितशिक्षण— इस आत्माका नाम है आत्मा। "अतति सतत गच्छति जानति इति आत्मा। जो निरन्तर गमन करे, उसे आत्मा कहते हैं। गमनका अर्थ जानना है, क्योंकि सबसे तेज गमन करने वाला ज्ञान है। ज्ञानकी गति सबसे तेज होती है। जो निरन्तर जाने, उसका नाम आत्मा है। इससे यह जानों कि इस आत्माका स्वभाव निरन्तर

जानते रहनेका है, यही इसका शील है। जैसे उपदेश हो कि अपने शीलकी रक्षा करो। तो काहे की रक्षा करोगे ? इस ज्ञाताद्रष्टापनकी रक्षा करो। तुम समस्त पदार्थोंके मात्रज्ञाताद्रष्टा रहो। इस शीलमे रहने वाले पुरुषको कभी सकट आ ही नहीं सकता। इस परमार्थशीलसे चिगे और परपदार्थों में यह मैं हू, यह मेरा है—ऐसी प्रतीति रखे तो वहा सकट अपनी उद्दण्डता के कारण अपने आप ही आएगा।

ज्ञानयोग— भैया ! ऐसे दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर बुद्धिमानीका काम यह होगा कि अपने आपमें गुप्त ही रहकर भीतरमें इस धर्मकी कमाई कर लो अर्थात् यथार्थ ज्ञान और यथार्थ विश्वासकी दृढता बना लो। जब आखिर कुछ साथ रहना नहीं है, सब कुछ विनष्ट होगा, सब कुछ छोड़ कर जाना होगा, तब हम अपने जीवनमे ही अपने ज्ञानबलसे उन्हें छूटा हुवा जान लें तो अभी ही सुखी हो जाएँ। अन्यथा ऐसी हालतमें समझो कि जैसे लोग अपने बापको जिन्दा-रहते तक तो सुखसे नहीं रहने देते और बाप मर जाए तो हर साल २५, ३० रुपए खर्च करते हैं। कहीं गया जी, कहीं और कहीं। १०, २० और ५० रुपये खर्च करके श्राद्ध करते हैं। अरे, अब जितना खर्च कर रहे हो, उसका थोड़ा भी कम करके जिन्दगीमे खर्च किया होता या प्रेमसे बोला होता तो यह उस श्राद्धकी अपेक्षा भला था। मरेके बाद खबर लेनेकी अपेक्षा जिन्दगीमे कुछ खबर लेना, यह ज्यादा अच्छा था।

ऐसे ही समझो कि परवश होकर या मरनेके कारण या पापोदयके कारण आपका यह धन दौलत परिग्रह छूटता है तो उससे अच्छा यह है कि अपनी राजी खुशी, अपनी प्रसन्नताके साथ स्ववश होकर जीवनमे उसे अपनेसे भिन्न मान लें।

समागमको भिन्न मान लेनेकी पहिचान— आपने उसे वास्तवमें भिन्न माना, इसकी पहिचान यह है कि योग्य काम देखकर अन्यको दीन दुःखी देखकर या कोई धर्मप्रभावना की बात निरखकर उस धनके खर्च करनेमें रच भी संकोच नहीं होना—ऐसी उदारता ही इसकी पहिचान है कि अपने जीते जी जीवनमें समस्त अन्य पदार्थोंको अपनेसे न्यारा समझा है। सकट अन्यत्र कहां हैं। जैसे लोग कहते हैं कि गरीब हो या धनी हो, सब अपने अपने घरके बादशाह हैं। साधारण रिक्शा चलाने वाले भी अपनी गद्दी पर बादशाह हैं। जैसे इस सारे लोकमें यह बात कहते हैं कि ऐसे ही स्वरूपमें यह बात पड़ी हुई है कि प्रत्येक जीव अपने आपमें अपने आपका बादशाह है, सर्वेसर्वा है। अरे निज सहजस्वभावको निरखो !

वहां आनन्द ही आनन्द है।

परिजनोंके साथ वास्तविक मित्रता-- भैया ! परिवारका संग मिला है तो वास्तविक मित्रता यह होगी कि स्वयं ज्ञानी अधिक विरक्त बने, ज्ञान और वैराग्यके मार्ग पर चलकर जीवन सफल करें और ऐसे ही मार्ग पर दूसरोंको लगावें, तब तो सच्ची मित्रता है अन्यथा विषयकषायोंके तो ये जीव प्रकृत्या रुचिया हैं ही, इनका विषयकषायोंमें चित्त सुगमतासे लग जाता है और फिर हमने अनेक विषयकषायोंके पोषनेकी बात कह दी या साधनमें जुटा दिया। एक तो वह स्वयं गड्ढेमें गिर रहा था, दूसरे अपन ने उसे धक्का लगा दिया तो यह बैरका ही काम किया; मित्रताका काम नहीं किया, परन्तु वाह रे मोह ! बैरके कामको तू मित्रताकी बात समझता है और वास्तविक मित्रताकी बातको तू गैर बात समझता है।

प्राकरणिक शान्तिशिक्षणका उपसंहार-- कल्याणार्थी पुरुष अपने देहको यों निरखे कि यह मैं नहीं हू और दूसरेके देहको यह निरखे कि यह परका आत्मा भी इन देहोंरूप नहीं है। यों निज और परके यथार्थस्वरूप को देखो तो वह इस आत्मतत्त्वमें व्यवस्थित होकर अपने आपमें शाति प्राप्त कर सकता है। शान्ति अन्यत्र कहीं भी तो नहीं है। शान्ति का तो स्वरूप ही यह आत्मा है। इस ओर दृष्टि देने मात्रसे ही सारे संकट समाप्त हो जाते हैं।

अज्ञापित न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मत्वात्तथा तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

ज्ञानीके कर्तृत्वबुद्धिका अभाव-- जिसे वस्तुस्वातंत्र्यकी खबर है, प्रत्येक पदार्थ ६ साधारण गुणोंकरि सहित है, इसी कारण प्रत्येक वस्तु स्वयं सत् है, अपने स्वरूपसे है, निरन्तर परिणमती रहती है। अपने ही गुणोंमें प्रदेशोंमें परिणमती रहती है। ऐसे ही स्वातन्त्र्यका जिसे परिज्ञान है—ऐसे ज्ञानी पुरुषके, जीवोंके प्रति 'इनका मैं कुछ करूं' ऐसी कर्तृत्व बुद्धि नहीं हुआ करती है।

अकर्तृत्वके वचनोंमें भी अज्ञानीके कर्तृत्वका आशय-- व्यवहारमें यों बहुत से लोग कह दिया करते हैं कि बहुत बड़ा काम करनेके पश्चात् भी कि मैंने कुछ नहीं किया है, मैं किस लायक हूं, मैं क्या कर सकता हूं ? ऐसा बहुतसे लोग कहते हैं, पर यथार्थबोधका परिज्ञान न होने पर उनके ऐसा कहनेके भीतर तद्विषयक कर्तृत्वबुद्धि और मिथ्या आशय छिपा हुवा है। इस प्रकार बोलनेसे शोभा होती है और लोकमें यश होता है। ऐसा ही कहना चाहिए कि मैंने कुछ नहीं किया, सब आपकी दया है, आपके

प्रसादसे सब हो गया है--ऐसा कहनेसे यश बढता है और उसके किए हुए कामकी प्रशंसा कई गुणी हो जाती है। ऐसा आशय पड़ा हुआ है भीतर में, जिसके कारण सभ्यताके नाते इस प्रकार कह रहे हैं कि मैंने क्या करा, मैं क्या कर सकता हू, सब आपका प्रसाद है।

ज्ञानीका व्यवहारविवेक-- अब जरा ज्ञानीकी बात देखो, इसके मूलमें ही यह विश्वास बना हुआ है कि प्रत्येक पदार्थकी सीमा अपने-अपने स्वरूपास्तित्वमें है और वह अपने ही स्वरूपमें रहता हुआ अपना ही परिणमन कर पाता है। मेरा तो किसी पदार्थसे सम्बन्ध ही कुछ नहीं है ऐसा जिसके स्पष्ट बोध है वह व्यवहारमें कर करकी क्रिया बोलकर भी करने वाला नहीं है, ऐसा प्रबुद्धचेता ज्ञानी संत इस प्रसंगमें यह विचार रहा है कि इन मूढ़ आत्मावोंको, इन पर्यायबुद्धि जीवोंको मैं बहुत भी प्रतिपादन करूँ तो भी ये जानते नहीं हैं और न प्रतिपादन करूँ, न बताऊं तो भी ये जानते नहीं हैं--ऐसी जिनकी जड़ बुद्धि है, जो व्यामोहके रंगमें बहुत रगे हुए हैं उनके प्रति ज्ञानी सोचते हैं कि मेरे कुछ बोलनेका, प्रतिपादन करनेका परिश्रम व्यर्थ है।

ज्ञानियोंका विशुद्ध लक्ष्य-- इस बातको सुनते हुए कुछ अर्थसा नहीं जम रहा होगा कि क्या कहा जा रहा है ? चीज ही ऐसी है और सुननेमें कुछ बुरी सी यों लगती है कि जो मुग्ध लोग हैं, व्यामोही हैं, मूढ पुरुष हैं क्या उनको ज्ञानियोंको समझाना न चाहिए ? यह तो आशंका करने वालों की ओर से ठीक है लेकिन ज्ञानी पुरुषोंका उपादान भी तो तकिये, उन्होंने क्या विश्वके जीवोंको समझाने के लिए कमर कसी है, क्या उन्होंने विश्व के प्राणियोंको ज्ञान कराने के प्रोग्रामके लिए ज्ञान पाया है, अथवा धर्म-धारण किया है, या वैराग्य किया है उन्होंने तो आत्मसाधनाके लिए, आत्मशांतिके लिए ये सब साधन बनाये हैं, तपस्या की है, ज्ञानार्जनका उद्योग किया है। अब आसानीसे सुगमतया निकट भव्योंको जिनका होनहार अच्छा है, जो मोह रगमें अधिक रंगे नहीं हैं, मूढ़ भी नहीं हैं, बुद्धिमान् हैं, हित चाहने वाले हैं—ऐसे पुरुषोंको थोड़े श्रमसे थोड़े व्यवहारसे लाभ पहुंचता है, तो ज्ञानियोंकी वृत्ति बन जाती है।

ज्ञानीके बहिर्मुखताका परिहार— भैया ! क्या यह समाधान कुछ कठिन लग रहा है ? पर इसका समाधान बड़ी जल्दी हो जाता होगा कि जिस ग्राहकके सम्बन्धमें यह जानते हैं कि इससे कोई बात पट ही नहीं सकती और यह अयोग्य है, इससे कुछ पूरा पडेगा ही नहीं, तो उससे उपेक्षा कर लेना, यह बात जैसे जल्दी समझमें आ जाती है ऐसे ही समझो

कि ज्ञानियोंने दुनियांके जीवोंको ज्ञान देनेके लिए त्याग नहीं किया है। जैसे कोई यह कह बैठे किसी त्यागीसे कि साहब दो दफे, तीन दफे कुछ पढ़ावो समझावो अथवा दो तीन बार प्रवचनका प्रोग्राम रक्खो और त्यागी कहे कि भाई इतना तो नहीं बन सकता, तो सुनने वाले लोग कह दे कि आप तो इसीलिए त्यागी हुए हैं। तो क्या कोई इसीलिए त्यागी हुआ है? घर छोड़ते समय अथवा वैराग्यके अभ्युदयमें जो कुछ भी चिंतन किया हो, क्या उसमें यह भी शामिल था कि लोग ऐसी सभामें जुडेंगे और मैं उनको समझाऊंगा और जगह-जगह जाकर प्रतिबोध करूंगा, ज़बरदस्ती करूंगा। तुम ऐसा समझलो, तुम यह चीज छोड़ दो, तुम अमुक चीज न खावो, ऐसा व्रत करो, क्या यह पहिले से सोच रक्खा था? अगर किसी ने सोच रक्खा हो पहिले से तो मेरे ख्यालसे उसका त्यागमार्गके लायक आशय ठीक न था। जिसने भी ज्ञान और तपस्याकी साधनामें उद्योग किया है उसका तो आशय आत्मशोधन का रहता है।

ज्ञानीकी अन्तर्वृत्ति-- देखो भैया! इतनी बड़ी तो आपत्ति पड़ी है खुदपर, अष्टकर्मोंका लदान लदा है, शरीरका जमाव लगा है। खुद तो दुःखी हैं, परेशान हैं, मलिन हैं और कल्पित मौजपर इतरायें तो यह कितनी विडम्बना है? भले ही पुण्यका उदय कुछ हो और वर्तमानमें कुछ इज्जत हो, पूछताछ हो, आराम हो, किन्तु ये कितनी देरकी बातें हैं? क्या होगा अंतमें किसी ज्ञानी विरक्त-पुरुषकी लौकिक महिमा देखकर? अज्ञानी पुरुष भले ही कुछ ईर्ष्या करे कि इनको बड़ा आराम है, बड़े प्रेमसे, भक्ति से लोग आदर करते है और खूब दिलभर मनमाना सुन्दर भोजन बनाकर खिलाते हैं, इनको तो बड़ी मौज है। पर ज्ञानी आहार कर चुकनेके बाद जब अपने स्थानपर बैठता है या कहीं भी खड़ा बैठा हो या वहीं हो मानो, तो वह तो यह सोच रहा है कि कितने दिनों तक चलेगा ऐसा नटखट, कहां तक पूरा पड़ेगा, यह तो रोग है। इस ओर विकल्प रहता है, उपयोग लगता है तो यह तो आपत्ति है और पूरा भी क्या पड़ेगा? क्या विपरीत उदय न आयेगा, क्या दूसरा जन्म न लेना पड़ेगा? यहां तो ऐसा विचार ज्ञानी पुरुष कर रहा है और कुछ लोग सोचते हैं कि ये महाराज तो बड़े मजेमें हैं, कितने ही लोग इनको पूछने वाले है। लोग हाथ जोड़-जोड़कर बहुत सुन्दर आहार कराते हैं, पर इस ज्ञानीकी तो कुछ और ही धुन है। इस वर्तमान मौजमें मौज ही नहीं लेता। वह तो जानता है कि यह थोड़े समयका ठाठ है, इसके बाद क्या हाल होगा? यों ही समझो अज्ञानीजन कहें कि ये त्यागी इसीलिए तो हुए है कि हम लोगोंका उपकार करें, दा

तीन बार कुछ सुनायें, पढ़ायें लिखायें, कुछ आगेकी बात जानते हों तो बतायें, हम लोगोंके संकट महाराज टालें। महाराज इसीलिए तो त्यागी हुए हैं। इस श्लोकमें इन्हीं आशंकाओंका ही तो यह समाधान दिया गया है। आसानीसे, थोडे उपायसे यदि कोई प्रतिबोधको प्राप्त होता है, ज्ञान हासिल कर सकता है तो करले। ज्ञानी तो अपनी साधनामें जुटा है।

ज्ञानीका परमें अनाग्रह— ज्ञानी पुरुष यदि धर्मोपदेश भी देता है तो अपने आपको लक्ष्य करके जो कुछ कहे उसका फायदा खुदको मिले इस पद्धतिसे देता है। ऐसा करते हुए अन्य लोगोंको उनके समागममें लाभ हो यह भली बात है। उन्हें लाभ हो जाय तो हो जाय, पर कमर कसे हों कि हमें तो इतना करना ही चाहिए, हम लोगोंको जोड़ें, जगह ठीक कर, लाउडस्पीकर न आया हो तो उठाकर ले आयें, आदमी कम आये हों तो दुकान पर जाकर सबसे प्रेरणा करें कि आवो, हम व्याख्यान करेंगे। हम तुम्हें कुछ समझावेंगे, अच्छी बात बतावेंगे, जिससे संकट टलेंगे। भला सोचो तो सही, इतनी रागवृत्ति जिसके है वह अनेक प्रकारके ऐसे श्रम करे तो उससे उसे कुछ फायदा नहीं है और जनताको भी लाभ नहीं। ज्ञानी तो अपनी साधना किया करता है। जो फायदा उठाना चाहे वह उससे उठा सकता है।

ज्ञानमय उपेक्षाका प्रभाव— जैसे प्रभु वीतराग सर्वज्ञकी स्थापना प्रतिमामें की गयी है, उनको हम आप कितना कितना पूजते हैं, फिर भी वह प्रतिमा किसीको कभी कुछ समझाती नहीं, किसीसे कभी बोलती नहीं, हम आप ही उनके गुणका स्मरण कर उनके चरणोंमें शीश झुकाते हैं, उनका पूजन करते हैं, समारोह करते हैं। प्रभुके ज्ञानकी पराकाष्ठा है, पूर्ण ज्ञानका उदय है। इस कारण इतना वैराग्य है, इतनी उपेक्षा है। जब देखो यह बोलते भी नहीं हैं तो भी उनके पादमूलमें आकर जो जनभक्ति करते हैं वे सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। ये अरहंतदेव पूर्ण आप्त हैं। आप्त उसे कहते हैं जो पहुंचा हुआ हो। देव हैं सर्वज्ञ हैं और उन्हींके छोटे भाई तो ज्ञानीसत पुरुष हैं। जिनेश्वरके लघुनन्दन जिसे पुकारा गया है ऐसे ज्ञानी-पुरुषमें भी यदि इस उपेक्षाका अंश भी न आया हो तो उससे मोक्षमार्गका कुछ प्रकाश भी न हो पायेगा। ऐसी स्थिति है उस ज्ञानी पुरुषकी। जिसके परम उपेक्षा है, वैराग्य भाव है, ज्ञानकी भी झलक क्षण क्षणमें होती रहती है, ऐसे ज्ञानी पुरुषके बारेमें ये आचार्यदेव कह रहे हैं कि मूढ आत्मावोंके प्रति सम्बोधनेका, समझानेका व्यायाम व्यर्थ है।

योग्यव्यवहार पद्धति— यहां यह आशंका अब भी श्वास ले रही है कि आत्मतत्त्वका स्वयं अनुभव करके ज्ञानी होता है, वह जड़बुद्धिको आत्मतत्त्व क्यों न समझेगा? भैया! समझानेका निषेध नहीं है, पर हठ करके कमर कसकर समझानेको यहा समझाना कहा गया है। ज्ञानीपुरुष बोल रहे हैं, समझा रहे हैं, वहां सभी तरहके पुरुष है, सबका उपकार हो रहा है, पर छाट छांटकर कहीं जड़बुद्धियोंको ही बैठाल दो तो ज्ञानी पुरुष योग्य आशय बिना कैसे अपनी ज्ञानवृत्तिका उपयोग कर सकेगा? देखिए बात थोड़ी थोड़ी न्यायकी हर जगह होती है। भगवान सर्वज्ञदेव तीर्थंकर प्रभुके समवशरणमे गणधर देव न हो तो उनकी दिव्यध्वनि न खिरे--ऐसा कहीं पढ़ा होगा, वहां तक भी कोई मनचला संदेह करने लगे कि देखो भगवान्‌को भी बड़ा रागद्वेप है कि लाखों आदमी तो बैठे हैं और एक गणधर नहीं है। गौतम गणधर आया था तो केवलज्ञानके बाद ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी।

अरे! इसमे रागकी बात नही है। जो बात जिस पद्धतिसे होनी है, वह उसी पद्धतिसे होती है। ज्ञानी पुरुप भी हालाकि इतने महान् विकास वाला नही है, लेकिन नीतिकी रुदशाता बतला रहे है। जड़बुद्धि-जड़बुद्धि सब छांट छाटकर बैठा दिए जायें और उनका परिचय भी हो कि ये सब इस तरहके हैं, अब कहांसे वह अपना प्रवचन विकास करेगा, अपनी कला करेगा? खुद ही सोच लो।

रागविरागभावके अनुकूल ज्ञानीको वृत्तिका न्याय— यों ही यहां सोच लो कि ज्ञानी पुरुषके कैसे यह श्रम हो सकता है कि मूढ जड़बुद्धियों के पास जा जाकर उनसे ही चिपकता कहता फिरे, जरा सुन तो लो इस संसार से परे होनेकी बात कह रहे हैं। ऐसी वृत्ति ज्ञानियोंकी होती नहीं हैं, क्योंकि वे दुनियाका उपकार करनेकी कमर कसनेका भाव रखकर ज्ञानी नहीं हुए, त्यागी नही हुए। उनका लक्ष्य आत्मस्वभावका है। ऐसे ज्ञानी पुरुषकी बात कह रहे हैं कि वह चितन कर रहा है कि इस मूढ़ आत्मपुरुषको हम अपनी बात समझाएँ। अपनी-बातके मायने हैं आत्मतत्व की बात।

जैसे यह बिना समझे नहीं जानता है, यों ही बहुत समझाया जाने पर भी नहीं जानता है, ऐसे जड़बुद्धि वालेके प्रति उसे समझानेका श्रम व्यर्थ है। इस सम्बन्धमें कितनी ही शंकाएँ बनायी जा सकती हैं। अरे जो बहुत समझदार हैं, उनको समझानेसे क्या फायदा? लेकिन जो जड़ हैं, लठ्ठबुद्धि वाले हैं, उनको समझाना चाहिए। उपकार तो वहीं पर है। बात

तो ठीक है, पर ज्ञानीकी गांठमें इतना तीव्र राग हो तो यह सौदा पटे। मूढ़बुद्धि वालेको समझानेमें अपना निरन्तर श्रम करे— ऐसा दोनोंके बीच का सौदा तब ही तो पटे, जब ज्ञानीके चित्तमें भी इतना अधिक राग हो कि 'माल न मान, मैं तेरा मेहमान', किन्तु ज्ञानी तो ज्ञाता व सहज उदासीन रहता है।

ज्ञानियोंकी साधना और प्रवृत्ति— ज्ञानीकी सब सहज वृत्ति होती है। इस कारण कहीं कहीं तो इतना तक भी कहा गया है कि ऐसे जड़बुद्धियोंसे, ऐसे निपट असंयत जनोंसे तो सम्भाषण भी न करना चाहिए। इन शब्दोंसे भी कहीं कहीं साधकोंके लिए शिक्षा दी गई है। जैसे यह बात तथ्य की है कि नीच पुरुष यदि उच्च बन सकें तो उन नीचोंके सम्पर्कमें और व्यवहारमें अधिक रहना चाहिए।

भैया! यह ठीक है और यदि उच्च भी नीच बन जाए, नीचके संसर्ग और व्यवहारमें रहकर तो क्या ऐसी परिस्थितिमें भी बड़ोंका यह काम है कि उन नीच पुरुषोंमें घुसे रहें? यह कल्याणकी चाहके स्थल पर की बात कही जा रही है। इसलिए लौकिक भाषामें जैसे कि आजकी दुनियामें यह बात फिट न बैठेगी, लेकिन ज्ञानियोंकी चूंकि सहज वृत्ति होती है, आत्मसाधनाका मुख्य लक्ष्य होता है, इसलिए इसी वृत्तिसे वे सफल होते हैं और उनके संसर्गमें जो आया, वह भी फल प्राप्त करता है। इसी तरहसे मुमुक्षुओंकी ऐसी बुद्धि जगती है कि जड़बुद्धियोंमें, तीव्र व्यामोहियोंमें उनका व्यवहार नहीं होता है।

यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

जल्पपरिहारका संकल्प— इससे पहिलेके श्लोकमें यह बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष व्यामोही आत्माओंके प्रति यह चिंतन कर रहा है कि यह पर्यायमुग्ध मूढ़ प्राणी आत्मतत्त्वको समझा समझाया भी नहीं जान सकता है। जैसे बिना किए समझे अपने ही पर्यायोंमें मुग्ध रहा करता है, आत्मतत्त्वको नहीं जानता, इसी प्रकार व्यामोहवश रङ्ग चढ़ा होनेसे समझाया जाने पर भी यह इस आत्मतत्त्वको नहीं जान सकता है। इसका कारण इनके लिए समझानेमें समय और श्रम लगाना, इससे लाभ क्या है? यों जानकर वह उनसे मध्यस्थ रहा करता है। अब इस श्लोकमें सभी के प्रति वचनालाप न करनेका चिंतन किया जा रहा है।

प्रतिबोधनका अनवकाश— जो यह (स्वकीय आत्माधिष्ठित देहपिण्ड अथवा मनुष्य) मैं समझानेको चाहता हूं, वह मैं नहीं हूं और जो मैं हूं,

वह अन्यके याने जिसे समझाना चाहता हूं, उसके ग्राह्य नहीं है। तो अब बताओ कि यह कौन मैं अन्य जीवको समझाऊँ ? जो समझाने जैसी पर्यायमें उन्मुख है अथवा चेष्टा कर रहा है, वह मैं नहीं हूं। जो मैं वास्तव हूं, वह कुछ नहीं ग्रहण करा सकता, तब यह कौन मैं अन्यको समझाऊं ? जो परमार्थ मैं हू, वह निश्चेष्ट विशुद्ध ज्ञानमात्र हैं और जो लौकिक मैं हूं, वह तो उपचारमात्रका "मै" है, फिर मैं समझा ही नही सकता। अतः समझानेका व्यर्थ परिणाम क्यों करूँ ?

प्रतिबोध्यताका अनवकाश-- जिसको मैं समझानेके लिए चाह रहा हूं अर्थात् दृश्यमान् यह देह जो मेरी आंखोंमें दृष्टा हो रहा है, ऐसा यह देह जिसको कि मैं समझानेकी चाह करता हू, वह मैं नहीं हू। जो मैं हूं, वह अन्यको ग्राह्य नहीं, फिर अन्यको क्या समझाऊँ ? यहां एक आशका हो सकती है कि जो आंखोके सामने दिखने वाले देहपिण्ड हैं, जिनको कि मना किया जा रहा है, उसे यह कहते कि यह आत्मा नहीं है, तो बात युक्त होती, पर जब यों कह रहे हैं कि मै जिस देहपिण्डको समझाना चाहता हूं, वह मैं नहीं हूं। इसका अर्थ क्या है ? तो यहां यह ज्ञानी इस आत्मतत्त्व को निरखनेके समयमें अन्य भाव नहीं कर रहा है। इस ही कारणसे तो परआत्मामें भी परत्वरूपसे उपयोग नहीं दे रहा है, किन्तु जातिरूपसे तक रहा है।

प्रतिबोधनकी अशक्यता-- मैं आत्मा स्वतन्त्र हूं, मै किसी परके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता, दूसरे लोग मुझे ग्रहण नहीं कर सकते। मैं किसीको समझानेका यत्न करूं तो वस्तुतः मैं किसीको समझानेका यत्न नहीं कर सकता, क्योंकि वे सब भिन्न पदार्थ हैं। मै दूसरोंको कुछ बताना चाहता हूं कि यह मैं हूं। यह मुझे जान जाए, मुझे समझ जाए तो उन दूसरोंको जो कुछ दिख रहा है, वह मैं नहीं हूं और जो मैं हूं, वह दूसरोंके ग्रहणमें आ नहीं सकता। तब फिर मैं दूसरोके लिए क्या सम्बोधन करूँ ? यह समझाने वाला जब व्यवहाररूपसे ही सही देखता है, तब समझाने का यत्न करता है।

किसीको समझाना है, कौनसा तत्त्व बताना है ? जब यह तत्त्व इसके लक्ष्यमें रहता है, तब यह तो स्वयं बुझ जाता है, अपने आपमें मग्न हो जाता है, परके प्रति व्यवहारकी क्रिया भी समाप्त हो जाती है अथवा यह दूसरा कोई पुरुष जब इस आत्मतत्त्वको समझ बैठे, तब यह भी अपने आपमें मग्न हो जाता है। फिर यह समझने और समझानेका व्यवहार चल कैसे सकता है।

**अज्ञानीका जल्पवाद**— अपना यथार्थ तत्त्व जिसको परिज्ञात है, उसे भी परिज्ञात इस तत्त्वके समझानेमें कोई विकल्प ही आएगा, निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व प्रतिबोधनका विषयभूत न होगा फिर तो। किन्हीं पुरुषों को समझानेविषयक धर्मचर्चा भी की जा रही है और अपने कर्तृत्वका आशय भी रखा जा रहा हो तो उस दूसरे पुरुषको समझाना कठिन हो ही जाता है। तभी तो बीच बीचमें वह व्यामोही कहता जाता है कि क्यों भाई समझा ना ? क्योंकि उसके चित्तमें यह बसा हुआ है कि मैं समझाने वाला हू और इन लोगोंको समझा रहा हूं। सो कह बैठता है कि क्यों भाई समझा ना कुछ ? जरा और विशेष अभिमानी हुआ तो यों कह देता है कि तुम्हारे दिमागमें आया कुछ ? अभिमान हुआ तो यों कह देता है कि तुम्हारे दिमागमें भुस भरा है या हमारी बात भी आई है ? उस व्यामोही के चित्तमें ऐसा अहंकार है कि मैं समझाऊं तो यह समझाता है। मैं समझाने वाला हू।

**वचनव्यवहारमें ज्ञानीकी निरहङ्कारता**— ज्ञानी पुरुषके यह अहंकार नहीं होता है। वह तो यों जानता है कि मैं किसीको समझा नहीं रहा हूं, किन्तु मेरे चित्तमें एक प्रकारका धर्मानुराग जगा है अथवा उस चर्चाके करनेमें हमारी भी अभिरुचि है। सो इस प्रसंगमें मैं अपनी कषायको शांत कर रहा हूं, अपनी अभिरुचिको प्रकट कर रहा हूं, अपने ही अन्तरङ्गमें अपना ही कार्य कर रहा हूं। मैं समझा क्या सकता हू और समझाता किसे है ? सभी जीव मेरी ही तरह अथवा प्रभुकी तरह हैं, ज्ञानानन्दस्वरूप वाले हैं।

यहां कौन छोटा और कौन बड़ा है ? कौन किसी दूसरेको क्या कर सकता है ? यह तो है एक आध्यात्मिक बात। लोकव्यवहारमें भी जो बड़े घरानेके पुरुष होते हैं, वे दूसरेको कुछ कहते समय अथवा दूसरेको वह बात समझमें नहीं आती है तो वह समझाने वाला यों कहता है कि भाई मैं तुम्हें बता नहीं सका। मुझमें अयोग्यता है, असामर्थ्य है कि मैं समझा सकनेमें समर्थ नहीं हू। बजाय यह कहनेके कि तुम्हारी कुछ समझ में ही नहीं आता, इसके एवजमें यही कहते हैं कि मैं सही तौरसे बता नहीं सका। आध्यात्मिक पुरुष तो इतनी भी अपने आपमें तरंग नहीं लाता है। वह जानता है कि मैं केवल अपने आपमें अपनी कषायरूप अपना परिणमन कर रहा हू। मैं किसे समझाता हूं ?

**परके द्वारा अन्यको ज्ञान देनेकी अशक्यता**— भैया, कोई पुरुष किसी दूसरेको ज्ञान नहीं देता है। सभी ज्ञानस्वरूप हैं, सो कुछ निमित्त

पाकर अपने आपमें बसे हुए ज्ञानतत्त्वको प्रकट कर रहे हैं। यदि कोई ज्ञान बांटने लगे, अपना ज्ञान किसीको देने लगे तो १०, २०, ५० शिष्योंको ज्ञान देने पर तो वह गुरु ज्ञानहीन हो जाएगा। अब तो वह गुरुघण्टाल रह गया। आप लोग जानते हैं कि गुरुघण्टाल किसे कहते हैं ? अब तो यह गालीका शब्द बन गया है। घण्टाल उसे कहते हैं, जो दूसरोंको हितमें लगनेकी प्रेरणा दे—

"परान् हिते घण्टयति प्रेरयति इति घण्टालुः।"

ऐसा तो एक विवेकी पुरुष ही हो सकता है, किन्तु मोहियोंकी यहां गोष्ठी है, अज्ञानीजनोंका समुदाय है। यहां तो किसीको गुरुघण्टाल कह दिया जाए तो वह गाली मान लेगा। जैसे किसी कंजूसको कोई कहे कि आइए कुबेर साहब ! तो वह अपनी बढ़ाई न समझेगा, वह तो गाली समझ जाएगा। पर कुबेर शब्द क्या गाली है ? अभी किसीसे कह दें कि यह तो बड़ा पुङ्गा है, पोंगा है तो ऐसा शब्द सुनकर वह बुरा मान जाएगा, पर आप पूजामें रोज रोज पढ़ जाते हो—

"स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय।"

पुङ्गवका अर्थ श्रेष्ठ है। उसीका बिगड़ा शब्द पुङ्ग है। शुद्ध शब्द है पुङ्गव और पुङ्गवसे बिगड़कर पोंगा या पुङ्गा, पङ्गा रह गया। छोटे पुरुषो को बड़ा शब्द यदि बोल दो तो वह गाली समझ लेता है। तो यहां पर घण्टाल भी गालीमें सामिल हो गया। तो मतलब यह है कि यदि कोई अपना ज्ञान किसीको दे दे तो वह दिया हुआ ज्ञान क्या उसके पास रहा ? किन्तु ऐसा नहीं है।

**ज्ञानका अद्भुत भण्डार**— ज्ञान देने वाले पुरुष जैसे जैसे ज्ञान दान देते रहते हैं, वैसे ही वैसे उनका ज्ञान पुष्ट होता रहता है, ताजा होता रहता है। धन वैभवका भण्डार तो ऐसा है कि जैसे जैसे खर्च करो, वैसे ही वैसे कम होता है, पर ज्ञानका भण्डार ऐसा है कि ज्यों ज्यो खर्च होता जाता है, त्यों त्यों बढ़ता जाता है।

**अनुभूतिकी वचनागोचरता**— यह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं किसीको न समझाता हूं, न ज्ञान देता हूं। मै तो अपनी ही अभिरुचिवश अपनी सभी कषायोंके अनुरागमें चेष्टा करता हूं। मैं किसीको इस अन्तस्तत्त्व को समझाने बैठूं भी तो बड़ी दिक्कतकी बात है। जिस रूपमें जिस शब्दसे, जिस विकल्पसे, जिस ढङ्गसे मैं इस अन्तस्तत्त्वको समझाने चलूं, वह ढङ्ग, वह रूप, वह विकल्प यह अन्तस्तत्त्व नहीं है और जो यह अन्तस्तत्त्व है, वह दूसरोंके द्वारा इस समझानेके प्रसङ्गमें ग्राह्य नहीं है।

इस रहस्यकी बातसे तो दूर रहो। आपके अनुभवमें रोज रोज जो बात आती है, आप उसे ही यथार्थ नहीं समझा सकते हैं।

अच्छा आप बताओ कि अरहरकी दालमे कैसा स्वाद होता है? आप शब्दों द्वारा कुछ बता नहीं सकते हैं कि कैसा स्वाद होता है? अरे जिसे अरहरका स्वाद बताना है, उसे अरहरकी दाल चावल बनाकर खिला दो, उसे अरहरकी दालका स्वाद मालूम हो जाएगा। तो किसी भी अनुभवको मैं शब्दों द्वारा किसीके सामने रख दू, यह शब्दोंमें सामर्थ्य नहीं है। मै कैसे इस परमार्थ अन्तस्तत्त्वको समझाऊं? यह तो प्रयोगसाध्य बात है।

हिंसाका परिहार करके यथार्थज्ञानपात्रताका निर्माण—भैया, अपने आपको ऐसा पात्र बना लो, अपनी ऐसी योग्यता बना लो कि परकी ओर से आंखे मींचें, विश्राम ले और निजसहजप्रकाश सामने आ जाए, अनुभवमे आ जाए—ऐसी भावना बनानेके लिए बहुतसे प्रयोग करने पड़ेंगे। प्रथम तो यह है कि गृहस्थावस्था है तो वहां न्यायनीतिसे रहना, पांचों पापोंका त्याग करते हुए अपना सद्व्यवहार रखना, उत्तम आचरण रखना, पांचों पापरहित व्यवहार रखना आवश्यक है। जो इन पापोंमें आसक्त है, किसी की जानको जान भी नही समझता है, किसीका भी दिल दुःख जाए, प्राण भी पीड़ित हो जाय, पर अपनी स्वार्थसिद्धि हो, अपनी बात बने—ऐसा जिसके अन्दर रौद्र आशय है, वह कैसे पात्र हो सकता है कि अपने अन्तस्तत्त्वकी बात समझ सके। इस कारण अपना दयामय व्यवहार रखना चाहिए।

मृषावादका परिहार करके यथार्थज्ञानपात्रताका निर्माण— जिसने झूठ बोलनेकी प्रवृत्ति बना ली हो, वह इस अन्तस्तत्त्वके दिलका पात्र नहीं हो सकता है। झूठ बोलनेकी आदत तो व्यर्थ की है। झूठ बोलने वाला कुछ लाभ नहीं प्राप्त कर लेता है। जिसे यह लाभ समझता है, वह तो सचाईसे भी प्राप्त हो जाता है और फिर कुछ भी काम भी न हो, स्वार्थ भी न हो तो भी झूठ बोलनेमें बहुतसे लोगोंको बहुत आनन्द आया करता है। झूठी गवाही देना, सचको झूठ जाहिर कर देना, और और भी बहुतसी बातें करके आनन्द मनाना, ये तो अपने आपकी बरबादीमे ही कारण हैं। इस कारण मिथ्यावादका परिहार करके एक अपने आपके शाश्वत प्रकाशमान् प्रभुके दर्शन तो कर लो।

चोरीका परिहार करके यथार्थज्ञानपात्रताका निर्माण— जिसे चोरी की प्रकृति पड़ गयी है वह अपने आपके अंतस्तत्त्वके दर्शनका पात्र नहीं

होता। परके मालको छिपा लेना यह तो चोरी है, ही, पर जो न्यायविरुद्ध बात है ऐसी कुछ भी घटनाको घटा लेना, जिसमें छुपकर चलना पड़े वह सब चोरी है। जो बात छुपकर करना पड़े, कोई जान न जाय ऐसा भाव रखकर किया जाय ये सब चोरी हैं। आपको विदित होगा अचौर्य व्रत भावनामें एक भावना-भैक्ष्य शुद्धि है। यह साधुओंकी बात है कि कि विधिपूर्वक गृहभिक्षा लेना। चोरीका भैक्ष्यशुद्धिसे क्या सम्बन्ध है ? सम्बन्ध देख लो। भोजन कर रहे हैं उस ही बीचमें कोई थोड़ासा बाल आ गया और वह ऐसी कला करदे कि किसी जगह सरका कर छुपा दे तो वह भी चोरी है। भाई छिपाकर क्यों भोजन कर रहे हो ? उस छिपकर भोजन करनेमें भी चोरीका दोष है। कोई बड़ा पुरुष ताजे भुने हुए चने मोल लेकर जेब में डालकर चबाता चला जाय और उसी समय कोई दूसरा व्यक्ति उसके पास पहुंच जाय तो वह उन चनोंको इस तरहसे जेबमें छिपाकर रखता है कि वह समझ न सके। अरे भाई तुम चने खा रहे हो, तुमने उन चनों को खरीदा है तो उसमें क्या बात हो गई, क्यों उन्हें छिपाते हो ? ऐसा छिपानेका परिणाम भी चोरीमें शामिल है। चोरीके आशयमें अन्तस्तत्त्व का दर्शन नहीं होता, अत. इस मिथ्याशयको छोड़ो।

कुशील तृष्णादिका परिहार करके यथार्थज्ञानपात्रताका निर्माण— यों ही जान लीजिए कि जैसे चोरीकी प्रकृति वालेको आत्मलाभ नहीं होता, इसी तरह कुशीलकी प्रकृति वालेको, तृष्णालु पुरुषको इस अतस्तत्त्वके दर्शन नहीं हो पाते हैं। न्याय नीतिका व्यवहार हो, सदाचार हो, वस्तुस्वरूप का ज्ञान हो तो इन सर्वसंगतियों से इस अंतस्तत्त्वके दर्शन हो जाते हैं। जिसका आश्रय करने से संसारके समस्त संकट टल जाते हैं।

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरंतरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

मूढात्माकी मुग्धप्रवृत्ति अप्रतिबोध्यताका कारण— इससे पहिले श्लोकमें यह बताया गया था और उससे सम्बन्धित पहिले श्लोकसे यह बताते आ रहे थे कि इन अज्ञानी पुरुषोंको, मूढ आत्मावोंको न समझाये जाने पर भी ये अंतस्तत्त्वको नहीं जानते और समझाये जाने पर भी अतः स्वरूप को नहीं जानते। जो आत्मा है वह समझने और समझाने वाले के उस प्रसंगमें ग्रहणमें नहीं आता आदि कारणोंसे कुछ भी समझाना व्यर्थ है, श्रम करना व्यर्थ है। मानों उस ही की पुष्टिमें अब यहां यह कह रहे हैं कि मूढ़ आत्मावोंकी प्रकृति कैसी हुआ करती है जिससे समझाया जाने पर भी व्यामोही पुरुषका आत्मतत्त्वकी ओर झुकाव नहीं होता, संतोष नहीं

होता।

मूढात्माके कल्पित संतोषका स्थान— अंतरङ्गज्योति जिसकी ढक गयी है, अन्तरमें ज्ञाननेत्र जिसका बंद हो गया है, विवेक नहीं रहा है ऐसा पर्यायव्यामोही जीव बाहरी-बाहरी बातोंमें संतुष्ट होता है। विषयोंके साधनोंकी बात हो, उनके उपायोंकी चर्चा हो तो इसे उस बाह्य बातमें ही संतोषका अवगाह हो जाता है, फिर अतरंगचर्चामें, अंतरतत्त्वकी कहानी में इसको कैसे सतोष होगा? किन्तु जो प्रबुद्ध आत्मा है, जिसका यथार्थ ज्ञान जागृत है स्व और परके स्वरूपको जो यथार्थ नजरमें लिए रहता है उसका झुकाव बाहरी पदार्थोंसे अलग हो जाता है। इस कारण वह पुरुष अपने अंतःस्वरूपमें संतोष करता है।

अज्ञानी का सतोष और समर्थन— देखो भैया! धर्मकी चर्चाके प्रसंगमें जब कोई उनके मनकी बात आ जाय, अज्ञानीके मनकी नाना बातें आ जाये तो वह उसका समर्थन करता है। हां यह है ठीक। अब शास्त्रकी बात, धर्मकी बात, ऊँची बात, अंतःस्वरूपकी कुछ चर्चा चले, उस ही का जो सहजस्वरूप है उस बाबत कुछ कथन करने के लिए प्रोग्राम चलें, तो उसे वहां संतोष नहीं होता है। यहां कुछ कहा ही नहीं गया है ऐसा उसे विदित होता है। वह अज्ञानी सारभूत अंतस्तत्त्वका ग्रहण नहीं कर सकता। उसकी बाह्यपदार्थों में बुद्धि मोहित हो गयी है।

यथापद उपदेश— ज्ञानी पुरुष, व्यवहारकुशल परोपकार निरत साधुसंत यथापदवी लोगोंको उपदेश करता है तभी धर्मधारणके प्रसंगमें अनेक विधियां हो गयी हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान करना ये भी तो धर्मपालनकी विधि है, अथवा तपस्या करना, उपवास आदिक करना ये सब भी तो धर्मपालनमें शामिल हैं ना। पूजा करना, खूब मनोहारी द्रव्यको चढ़ाना, समारोह करना, जलविहार रथयात्रा करना और जसे आजकल महावीरजी की यात्रा बहुत प्रचलित है। इस महावीर जी की वजहसे भी अनेक लोग कुछ मार्गको पकड़े हुए हैं। यह भी अच्छा है यथापद योग्य पुरुषोंके लिए। धर्मपालनकी यहा विभिन्नता होती है, उसका कारण यह है कि कोई अंतस्तत्त्वका रुचिया होता है, कोई बाहरी बातोंमें ही संतोष कर लेता है।

यथापद उपदेशपर एक दृष्टान्त— कहीं कथानक आई है कि एक बार एक प्रबुद्ध आचार्यमें और एक बड़े शब्दशास्त्रके धुरन्धर विद्वान्में किसी बात पर बहस हो गयी। उन दोनोंमें धार्मिक चर्चापर कुछ विसम्वाद हो गया तो उन दोनों ने यह निर्णय किया कि चलो किसी तीसरे पुरुषसे

अपनी-अपनी बात कहें, वह जो निर्णय दे उसको मान लें। जो कोई हार जाय वह जीतने वालेकी बात स्वीकार करले, धर्म मानले। सो अब वे चले दोनों किसी तीसरे को सुनाने के लिए। तो मानों एक मिल गया गड़रिया। वह शास्त्रज्ञ विद्वान् तो संस्कृतकी कड़ी झाड़ने लगा और यह साधु बकरी और उनकी सेवाके सम्बन्धमें कुछ विधियां बताने लगा। कैसे इनका पालन हो, कैसे इनका रक्षण हो। अब तो गड़रिया बोला कि साधु महाराज जो कहते हैं वह ठीक कहते हैं। अब वह शास्त्रज्ञ बड़ा परेशान हुआ। उसने सोचा कि मैंने तो ऐसी अच्छी कलासे इसे ज्ञान बताया, फिर भी यह समर्थन नहीं देता है। फिर चले किसी दूसरेके पास मानो ग्वालेके पास, तो वहा भी वह शास्त्रज्ञ विद्वान् संस्कृतकी लड़ी झाडने लगा और यह साधु पशुपालन गौसेवाके विषयमें सब बाते बताने लगा। तो उसने कहा कि जो ये साधु जी कहते हैं सो ठीक कहते हैं। तो जिसको सुनना है उसकी तो बात देखो कि वह किस योग्य है ?

कोमल चिकित्सा— जो बच्चा दवाई खाना ही नहीं चाहता उसे कोई कड़ुवा चूर्ण खिलाये तो वह न खायेगा। उसे तो मां बतासेमें रखकर खिलाती है और वह खा लेता है। यों ही यथापद धर्मकी बातें हैं। पहिले यह तो बन जाय कि कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म, कुसंगतिमें नहीं पहुंचना है। यह अज्ञानी तो बाह्यपदार्थोंमें सतुष्ट रहा करता है। इसे तो बाह्य पदार्थ चाहियें। उनमें ही उसे सतोष होता है, वहीं इसमें टेव पड़ी हुई है, उन्हीं में यह तोष किया करता है, इसे अपने आपकी सुध ही नहीं रही। कैसे संतोष करेगा ? बाहरमें ही अपनी सुध ही नहीं रही। कैसे संतोष करेगा ? बाहरमें ही अपनी दृष्टि रखेगा तो अब क्या करना ? कम से कम इतनी भी बात हो जाय कि उस ही बाह्यसंतोषको आदतके प्रसंगमें ऐसी बुद्धि आ जाय कि पूजा करे, यात्रा करे, तीर्थयात्रा करे, दान दे, विधान करे और उनके लगावमें, प्रसंगमें इसे यह बात बैठ जाय कि इससे उन्नति है, वृद्धि है, सांसारिक वैभव भी इससे मिलता है, चलो उसका यह पहिला मोड़ है अन्यथा कितने ही पुरुष तो इतनी विपरीत बुद्धि वाले हैं कि धर्मका ध भी नहीं बोल सकते। रात दिन शौक, विषयसाधन यही धुन रहती है।

निजदर्शनमें अन्तस्तोष— यदि ठीक होना उदय सो ठीक हो जायेगा, उचित मार्ग मिलेगा, पर ज तक पर्यायका मोह रहता है अंतस्तत्त्व का परिचय नहीं हो पाता है तब तक। यह जीव बाह्यबातोंमें संतोष करता है। और जब अपने आनन्द का धाम इसे दिख जाय तब अंतरंगमें संतोष

करने लगेगा। कोई बच्चा किसी दूसरे बच्चेके हाथमें खिलौना देखकर रोने लगता है, मां उसे कुछ चांटे मारती है। उसके दु:खको दूर करने का यह उपाय तो सही नहीं बैठ पाता। अरे दु:ख तो उसे खिलौने न मिलनेका है, वह चाटोंसे न मिटेगा। हालांकि यह बात ठीक है कि वह दूसरेका खिलौना है, वह मिल कैसे सकता है? उसकी चाह करना व्यर्थ है, उसके लिए क्यों रोता है? यह बात यद्यपि ठीक है, किन्तु यह रोना मिटेगा भी तो इसी तरह कि उसका खिलौना लाकर उसे दे दो। वह अपने खिलौनेमें राजी हो जाएगा और उसका रोना मिट जाएगा। ऐसे ही अज्ञानी प्राणी इन विषयसाधनोंरूप बाहरी खिलौनोंको निरखकर इनके लिए ही मरते है। इनका यह रोना कैसे मिटे? बाहरी पदार्थोंमें निग्रह अथवा अनुग्रह करके उनका संचय अथवा विनाश करके यह रोना न मिटेगा। जीवमें तो स्वभाव ही पड़ा है कि यह कुछ जाने। इस जीवमें किसी न किसी ओर रमनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। इसका जो स्वाधीन सहज शुद्ध खिलौना है, अभिन्न चित्स्वभाव है, सहजस्वरूप है। इसीका दर्शन हो जाए तो इन बाहरी खिलौनोंका रोना मिट सकेगा।

विनिश्चयकी अनुसारिणी वृत्ति— जब तक मिथ्यात्वका उदय है, तब तक इसे अपने सहजस्वरूपका दर्शन हो ही नहीं सकता। जो तीव्र मोही पुरुष है, उसे समझाये जाने पर भी उसमें अन्तर नहीं आता है और यहां समझने वालेने विकल्प मचाकर अपने आपके आनन्दस्वरूपसे चिगकर अपना विनाश किया। यह मूढ़ आत्मा बाह्यपदार्थोंमें ही संतुष्ट होता है कितना ही समझाया जाने पर भी इसे अपने अन्तरङ्गमें संतोष नहीं होता और ज्ञानी पुरुषको कितना ही बहकाया जाने पर भी, भुलावा देने पर भी, कुछ असर देने पर भी इसे बाह्यमें संतोष नहीं होता। वह अपने अन्तरङ्ग में ही सतुष्ट रहता है।

विनिश्चयकी अनुसारिणी वृत्ति पर एक दृष्टान्त— भला सामने पड़ी हुई रस्सीमें यह भ्रम हो जाए कि यह सांप है, तो समझानेसे वह मान नहीं सकता है कि यह सांप नहीं है, यह रस्सी है। हां उसे ही कुछ साहस जगे, कुछ बुद्धि चले और धीरे धीरे परीक्षा करे तो उन परिक्षाकी चेष्टाओं से वह जान जाएगा कि यह साप नहीं है, पर कोरे वचनोंके कहने मात्रसे किसीके मनमें बात नहीं बैठती है। उसी पुरुषका अपनी ही हिम्मतके कारण जब वह निकट जाए तो भ्रम समाप्त हो जाता है और स्पष्ट जान ले हाथ से उठाकर भी समझ ले कि यह तो रस्सी है, सांप नहीं है। अब उसे कोई कितना ही बहकाए कि अरे यह तो सांप है तो क्या वह सांप समझे

लेगा, क्या कुछ गलत मान लेगा ?

विनिश्चयके अनुसार सन्तोषका आश्रय— ऐसे ही जिन अज्ञानी पुरुषोंने अभी तक अपने सहजस्वरूपको नहीं पहिचाना, उन्हें तो बाहरी पदार्थोंमें ही संतोष होगा, समझाये जाने पर भी वे सही बात मान न लेंगे और जिसे अपने आपके स्वरूपका अनुभव हुआ है और यह जाना है कि यह अन्तस्तत्त्व अनादि अनन्त अहेतुक है ऐसा अपने स्वरूपका परिचय हो जाय और उस ही स्वरूपदृष्टिके कारण अनुभव हो जाय, अब उसे कोई कितना ही बहकावे तो क्या विपरीतधारणामें आ जायेगा ? वह तो अंतरंगमें ही शांत हुआ करता है। जैसे पुराणोंमें सुना ही होगा अंतिम अनुबद्धकेवली श्री जम्बूस्वामी हो गए हैं, उनको गृहस्थावस्थामें सब लोगों ने दबाकर इस बात पर राजी किया कि वह शादी करलें, फिर एक दिन बाद जो सोचें सो करें। समझाने वालोंको यह विश्वास हुआ था कि जहां स्त्री घर आयी, स्त्रीका परिचय हुआ यह स्वयं ही फंसकर रह जायेगा। शादी हुई, रात्रिभर उन सेठानियोंने ऐसी कहानी सुनायीं कि जिससे यह शिक्षा मिली जम्बू स्वामीको कि वर्तमानमें जो सुख मिला है उसको छोड़ कर, घरका आराम तजकर और एक कल्पित बहुत आगे भविष्य कालके सुखकी चाह कर रहे हैं, पर उनके उत्तरमें जम्बूस्वामी भी अपनी उचित कहानी कहें। रात्रि व्यतीत हुई और जम्बूस्वामी अपने कल्याणके लिए आगे रास्ता नापने लगे। जम्बूस्वामी विरक्त हो गये। आत्मसाधनामें प्रगतिशीलको यह उचित ही है।

प्रबुद्धका अन्तःसन्तोष— प्रबुद्ध आत्मा अंतरंगमें ही सतुष्ट होते हैं किन्तु मूढ आत्मा बाह्यमें ही संतुष्ट होते हैं। ऐसी घटनाएँ होने पर अज्ञानी क्या सोच रहे होंगे कि जम्बूस्वामीका कुछ दिमाग फेल तो नहीं हो गया था। कल ही शादी हुई और लो आज ही चल दिया। इसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है, इसे कुछ दया भी नहीं आई। अनेक बातें कही जा सकती हैं जो सुननेमें बहुत युक्तियुक्त भी मालूम होती हैं। क्या यह धर्म नहीं है अपने घरके लोगोंको सुखी रखना, उन्हें कोई विपत्ति न आने देना, यह बात सोची जा सकती है, परन्तु यहां तो वही हो रहा है जैसा कि निर्णयमें होना चाहिए। जिसकी इस अंतरंग चैतन्यस्वभावमें रुचि जगी है वह तो इस चैतन्यस्वभावकी महिमाके लिए ही सब कुछ न्यौछावर करेगा।

अज्ञानमें ही दुरनुभूति— भावोंमें विपरीतता होना, गंदगी होना, धोखा देनेकी बात होना—यह हो सकेगा अज्ञानमें ही। जैसे कि अजनाके प्रथमदर्शनमें पवनञ्जयने पहिले ही यह सोचा था कि ऐसी विमुख

अञ्जनासे शादी न करनी चाहिए। फिर सोचा कि अगर शादी न की तो फिर इसे मजा ही क्या चखा पाऊँगा? फिर इससे एक बात भी न करूँगा। किया उसने ऐसा ही, शादी कर लिया और छोड़ दिया २२ वर्ष तकके लिए। यह है छल वाली बात। अन्तस्तत्त्वके वातावरणमें छल कहां है? शुद्धविचार है, शुद्ध आशय है, ज्ञानके लिए ही गति है।

इस प्रकरणसे शिक्षाग्रहण— ज्ञानी पुरुष बाहरमें तुष्ट नहीं होता किन्तु अत:स्वरूपमें ही संतुष्ट रहता है, जब कि अज्ञानी जीव बाह्यविषयों में ही सतोप किया करते हैं। यह अज्ञानी और ज्ञानीकी प्रकृति कही गयी है। इससे एक तो यह शिक्षा लेना है कि अत्यन्त विमोहित पुरुषसे, मूढ़ आत्मासे व्यवहार न करना, दूसरी बात यह ग्रहण करना है कि बाह्य-साधनोंमें संतोप करनेसे मूलमें संतोप नहीं आया करता है और अंतः-स्वरूपमें संतोप होता है तो शांति ही है— ऐसा जानकर बाह्यपदार्थोंसे कौतुकता छोड़कर अपने आपमें ही अपने आपको खोजो और अपने आपमें ही परमविश्राम लेकर अपने ये अमूल्य क्षण सफल करो।

न जानन्ति शरीराणि सुखदु:खान्यबुद्धय:।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥

मोही प्राणियोंकी अचेतनमें निग्रह अनुग्रहकी बुद्धि— बहिरात्माकी दृष्टि बाह्यमें रहती है और उसे बाह्यमें ही सतोप हुआ करता है। इस पर आचार्य महाराज खेद प्रकट करते हुए यह बता रहे हैं कि देखो ये शरीर सुख और दुःखको जानते भी नहीं हैं, लेकिन यह प्राणी इन शरीरोंमें ही विग्रह और अनुग्रहकी बुद्धि करता है। यह सब अज्ञान का फल है। कृपा तो उसपर की जाना चाहिए जो कुछ जानता हो और हमारी कृपाका आभार मान सकता हो और दण्ड भी उसे देना चाहिए जो दण्डका अनुभव कर सकता हो और कुछ तकलीफ भी मान सकता हो। जैसे किसी को चलते हुएमें किवाड़ लग जायें, किवाड़के ऊपरका काठ सिरमें लग जाये तो क्या किसीको देखा है कि उस काठको दण्ड दे, उसे पीटे, दो चार बेंत मारे? न देखा होगा और कभी देखा होगा तो उसकी गिनती उन्हीं अविवेकियोंकी लिस्टमें रख लेना चाहिए। जैसे कि ये संसारी मोही प्राणी इस शरीरादिकमें चैतन्य न होने पर भी निग्रह और अनुग्रहकी बुद्धि करते हैं।

मूढ़ या नादानकी बुद्धि— अचेतनमें निग्रह अनुग्रहकी बुद्धिवाला प्राणी या तो कोई मूर्ख होगा, जो इस अचेतन काठ पत्थरको पीटकर, मारकर अपने को संतुष्ट कर सकेगा कि इस किवाड़ ने मुझे मारा, दुःख

दिया तो इस किवाड़को भी हमने खूब सजा दे दिया फिर नादान बच्चा संतुष्ट हो जायेगा। किसी बच्चे के कुछ लग जाय तो मां उस काठ पत्थर को ही तीन चार मुक्के रैपट मारकर बच्चेको प्रसन्न कर देती है। बच्चा सोचने लगता है कि मुझे इस लकड़ीने दुःख दिया, तो मेरी मांने इस लकड़ीको मार दिया, खूब खबर ले ली। नादान ही इन अचेतन पदार्थोंमें निग्रह और अनुग्रहकी बुद्धि करेगा, किन्तु विवेकी इन अचेतनपदार्थोंमें कृपा और दण्डकी बुद्धि नहीं करता है, किन्तु यह पर्यायमुग्ध प्राणी, अनादि कालके मोहका रोगी इन बाह्यअचेतन पदार्थोंमे शरीरमें, निग्रह और अनुग्रहकी बुद्धि करता है।

भूख प्यासका कारण शरीर— भैया! इस शरीरकी कितनी भी खुशामद करो, पर यह कृतज्ञ नहीं हो सकता है। पहिली बात तो इसमे जान ही नहीं है। दूसरे अपनी प्रकृतिके अनुसार यह दुःखका ही कारण बनेगा, सुखका कारण नही हो सकता है। देखो जितने भी क्लेश होते हैं हम आपको उन सबका कारण यह शरीर है। मोहमें न माने यह बात दूसरी है, क्योंकि शरीरमें आत्मबुद्धि है या यों कहलो कि ससारसे सम्बन्धमें ही चैन मानी जा रही है। कितने कष्ट हैं, उन कष्टोको गिन-गिन कर निर्देशन करके सामने रख लीजिए, क्या-क्या कष्ट हुआ करते हैं? भूख लगती है तो उसमें भी शरीरका कारण पड़ा या नहीं? शरीर है, पेट है, भीतरी रचनाएँ हैं, क्षुधा होती है और शरीर न हो, केवल यह आत्मा हो, तो किसे लगेगी भूख? जब यह अमूर्त है, ज्ञानानन्दस्वरूप है, भावात्मक है तो भूख नामकी चीज क्या? प्यास लगे तो उसमें भी यही बात घटालो कि शरीर ही उसका कारण पड़ता है। कुछ भी क्लेश हो तो उसमें भी कारण यह शरीर ही तो पड़ा।

ठंड गर्मी जीवन मरणके क्लेशका कारण शरीर— न होता शरीर का सग तो ठंड कहांसे लगती? भावात्मक अमूर्त चैतन्यस्वरूप इस आत्मा मे ठंडका प्रवेश नहीं होता है। कभी आकाशको भी ठंड गरमी, भूख, प्यास लगी है क्या? क्या आपने कभी यह भी सुना है कि आकाशको लू लग गयी? तो जैसे आकाशको ठंड, गर्मी, भूख, प्यास, लू आदि नहीं लगती है ऐसे ही आत्मामें जो आत्मस्वरूप है उसकी बात कह रहे हैं। कोई देहको ही जीव मान ले उसकी बात नहीं कह रहे हैं, आत्मामें शीत उष्ण आदि नहीं हैं तो कहांसे सर्दी गर्मी लगेगी? जीवन और मरणके भी क्लेश इस शरीरके सम्बन्धसे ही होते हैं। अब नया शरीर मिल गया लो जीवन मान लिया। अब पाये हुए शरीरका वियोग हो गया, लो मरण हो गया। न हो

शरीर केवल यही आत्मा हो जो स्वयं सत है तो इस जीवनका क्या क्लेश और मरणका क्या क्लेश ? जीवन मरण इस आत्मामें हैं ही नहीं। जो क्लेश हों सामने रख लो।

धनहानि, कीर्तिहानी व व्याधिके क्लेशोंका कारण शरीरः— धन चला गया, मान लो यह एक क्लेश है। सरकारने छीन लिया, डाकू ले गए, व्यापारमें टोटा पड़ गया, ये सब क्लेश भी तो इस शरीरके ही संबन्ध से हैं ना। किसीने शरीरके संसर्गमें शरीरको अपना लिया कि यह मैं हूं और ऐसे अपने शरीरमें भी अपनायत की व दूसरेके शरीरमें यह दूसरा आत्मा है— ऐसी अपनायत की। जब यह मान लिया कि यह मैं हूं और यह पर है, तब ये यश, मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, इज्जत, पोजीशन आदि इस शरीरके व्यवहारसे लग बैठेंगे। अब उस इज्जत पोजीशनकी सभालके लिए कुछ साधन भी चाहिएँ ना।

भैया ! वह साधन मुख्य धन वैभव है। तो अब उसके कम रह जाने से यह क्लेश मान लेगा। धनके मिटनेका भी जो क्लेश हो, उस क्लेशमें भी मूल बात तो निरखिए। शरीरका सम्बन्ध ही उस क्लेशका कारण है। रोग हो, उसका भी कारण शरीर ही है। समस्त क्लेशोंका कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है, शरीरका संग होना है।

अननुग्राह्य शरीरपर मोहियोंकी अनुग्रहबुद्धिः— इस शरीरको ये मोहीजन कितना पोसते हैं ? देख देखकर खुश होते हैं कि मेरा शरीर इतना बलवान् है, अब इतना गठीला हो गया। चपटी नाक हो और ऐनेमें अपना मुख देखे तो थोड़ी गर्वकी रेखा आ जाएगी। मैं बड़ा रूपवान् हूं। इस शरीरको कितना पोसते हैं, कितना आदर करते हैं, किन्तु यह शरीर क्लेशोंका ही कारण बनता है। तिस पर भी अज्ञानी जीव इस शरीरमें ही अनुग्रह बुद्धि करते हैं। बात बात पर कभी झगड़ा हो जाय तो उसका भी कारण देखो शरीरका ही सम्बन्ध है। लोग सोचते हैं कि इसने यह क्यों कह दिया मुझसे ? यह देहपिण्ड जो दूसरोंको दिखता है, उससे मतलब नहीं है। मुझसे का वास्तविक मतलब तो चैतन्यस्वरूपसे होता है। इस चैतन्यस्वरूपमें एक तो बात नहीं पहुंचती और फिर जिसको यह प्रतीति हो जाए कि ऐसा यह मैं अमूर्ततत्त्व हू, उसको तो इस चैतन्यतत्त्वकी ओर से एक भी कल्पना न उठेगी। यह जीव इस शरीरमें आत्मबुद्धि किए हुए है, इस कारण इस शरीरपर अनुग्रह बुद्धि करता है।

व्यामोही जीवोंकी शरीर पर निग्रहबुद्धि— अब निग्रहकी बुद्धि भी देखिए—कोई कोई पुरुष अपने ही हाथसे अपना ही माथा ठोकते हैं, सिरमें

ही ठोकर मारते हैं। कितने ही पर्यायमुग्ध जीव उनकी जो धर्मकी धुन बैठ जाए, उसे ही धर्म कहा करते हैं। यह देह ही मैं हूं, फलाने लाल, फलाने चन्द, अमुक प्रसाद यह ही मैं हूं। इस मुझको धर्म करना है तो क्या चाहिए? तीन चार दिनका अनशन करलें, यह पर्यायमुग्धियोंकी बात कह रहे हैं। क्यों करते हो भाई अनशन? यहां देहसे तपस्या करना है। यह देह हमारा साथी नहीं होरहा है, इसलिए इसे ताड़ना देना है। अब निग्रहबुद्धि कर रहे हैं, दण्ड दे रहे हैं। यह शरीर ही दुःखका कारण है—ऐसा जानकर शरीरको सुखा रहे हैं। ज्ञानी पुरुष तपस्या और अनशनोंका मर्म और कुछ है, उनका तो खूब सहजवृत्तिसे ज्ञानकी रक्षा करते हुए तपश्चरण होता है।

व्यामुग्धदेहियोंकी अन्य शरीरों पर भी निग्रह-अनुग्रहबुद्धिः—यह जीव अपने शरीरपर भी निग्रह और अनुग्रह बुद्धि करता है और दूसरों के देहपर भी निग्रह और अनुग्रहकी बुद्धि करता है। यह तो बड़ा आसान बन रहा है इन मोही जीवोंको। कोई दूसरा शरीर रुच गया तो उसे लालित व शोभित करते हैं। किसी दूसरेने कष्ट पहुंचाया तो उसको पीटना है, दण्ड देना है या जान तक ले लेनी है, यह निर्णय व यत्न बन जाता है। यह क्या है? निग्रहबुद्धि होना। ये देह जिन पर क्रोध किया जा रहा है, ये क्या कुछ जानते हैं? नहीं जानते हैं। फिर भी किसीके द्वारा किसी को कष्ट पहुंचता है। बदला लेनेमें उस देहको ताड़ करके उसकी जान लिया करते हैं।

वह देह तो कुछ जानता ही नहीं है। उस अचेतन देहको ताड़नेसे उस मलिन जीवको वस्तुतः क्या दण्ड मिला? रहा भीतरका आत्मा, उसको दण्ड देना चाहते हो तो देखिए आत्माको दण्ड देनेका क्या साधन है? उसमें मुक्के तमाचे लगाना नहीं है या उसे गालियां देकर या ठोक पीटकर चाहो कि उसको दण्ड मिल जाएगा, यह नहीं है। दण्डका अर्थ यह है कि फिर यह दोष न कर सके—ऐसी स्थिति बना देना, इसीका नाम तो दण्ड है। उस मनुष्यमें, उसकी आत्मामें फिर यह दोष न आए, इसका उपाय तो वात्सल्य है, ज्ञान देना है। उसके अनुकूल बनकर अपने हितैषी बनकर ऐसा व्यवहार करो, जिससे उसको विश्वास हो जाए और फिर उसे शिक्षा दो, उसके दोष मिटेंगे। यह बताओ कि क्या उपाय हो सकता है कि उसको पीड़ा फिर दुबारा न हो।

शरीरकी सजावटसे जीवमें अभ्युदयका अभाव—यह शरीर जड़ है। इसको सुखी रखनेसे, शोभित रखनेसे आत्माका अनुभव नहीं होता।

इस शरीरको कितना ही कसो, परन्तु यह नहीं समझ सकता कि मुझे दण्ड दिया जा रहा है। इस शरीर पर कितनी ही अनुग्रहबुद्धि करें, यह नहीं समझ सकता कि मुझ पर क्रोध किया जा रहा है। आज सुबह देखा कि एक पुरुष तीन घोड़े लादे जा रहा था। उनमें एक घोड़ा बहुत दुबला पतला था। उसकी हड्डी निकल आई थीं, पर उसकी सजावट खूब की गयी थी। अब आप यह बतलाओ कि उस सजावटसे क्या घोड़ा खुश है? अरे वह तो यह चाहता है कि मेरी सजावटमें जो खर्च हुआ हो, वह घास, भुस आदि मेरे खानेकी चीजोंमें खर्च कर दिया जाता तो अच्छा था। उसे तो भर पेट भोजन चाहिए। सजावटसे उसे क्या लाभ है? यह तो एक दृष्टांतरूप बात है। यहां तो और भी इससे भी तत्त्वकी बात कही जा रही है।

शरीरशृङ्गारसे कर्मबन्धनका सम्बन्ध—यह शरीर तो कुछ भी नहीं जानता है। शरीरको यदि खूब सजा दिया जाए गहनोंसे, पैरोंसे लेकर सिर तक कितने ही आभूषण लाद दिए जाएँ, आभूषणका सिर पर मेंढ़ष, कानमें ततैया, नाकमें सब कुछ पैरोंमें अच्छे छल्लकी मछलीसी पहिन लें, कितना ही कुछ सजा लें, पर उस सजावटसे इस शरीरको कुछ चैन मिलती है क्या? काहेको यह सजावट की जा रही है? यह सजावट क्यों की जा रही है? यह सजावट पाप बांधनेके लिए की जा रही है। कैसे? यह तो शरीर मैं हू और इसकी सजावट होनी चाहिए। शरीरके सजानेका परिणाम लगा हुआ है और शृङ्गारकी ओर प्रगति है तो इससे तो पाप ही बांधा उसने। लाभ क्या लूट लिया? शरीर तो शरीरकी जगह है। आत्माके फायदेकी चीज तो ज्ञानभाव है। ज्ञान यथार्थ रहेगा तो शांति रह सकती है। जहा ज्ञान गड़बड़ हुआ, विपरीत हुआ, वहां अशांति आ ही जाएगी। यदि आप आनन्दको चाहते हो तो ज्ञानसाधनामें ही लगना चाहिए। इस शरीरकी निग्रहबुद्धि और अनुग्रहबुद्धिसे कुछ लाभ नहीं निकलता।

ज्ञानीकी सहज शोभा—जो ज्ञानीजीव होते हैं, उन्हें शरीरकी सजावटकी मनमें आती ही नहीं है। गृहस्थ ज्ञानीसे लेकर साधु ज्ञानी तक देखते जावो, गृहस्थोंमें भी जो ज्ञानी गृहस्थ हैं, पुरुष हैं अथवा महिला हैं, उनके शरीरके सजावटकी मनमें नहीं आती है। अब पदवीके अनुसार साधारणतया तो कुछ हो ही जाता है। क्या करें? गृहस्थको चलाते हुए पुरुष क्या कुछ कपड़े ही न पहिनें? कुछ तो पहिनेंगे ही। अब उसीको ही कोई शोभा शृङ्गार मान ले तो उसको क्या करे? पर देखो, ज्ञानी पुरुष

मोटा कपड़ा पहिने, बटन खुला भी रहे, कहीं का कालर कहीं जाए तो भी वह शोभामें शामिल हो जाता है। इसका क्या करे ? महात्मा गांधीके चित्रोंमें देखा होगा, कहीं बटन ही नहीं लगा है, कहीं कमीज खुली है, एक तौलियासी लपेटे हुए हैं, यह भी शोभा है। जिस ओर लोगोंके समुदाय की दृष्टि जाए, वही श्रृङ्गार है, वही शोभा है।

निग्राह्य और अनुग्राह्य आन्तरिक भाव— यह अज्ञानी जीव गुणोंसे तो अपनी शोभा, अपना श्रृङ्गार नहीं करना चाहता। और वस्त्रोंसे, आभूषणोंसे या रंग लपेट लिया, मुखमें राख लगा लिया, ओंठ लाल कर लिया, इन बातोंसे शोभा श्रृङ्गार जताना चाहते हैं। किसी-किसी पुरुषको भी यह शौक हो जाता है। आचार्य महाराज ऐसे मोहियोंकी दशाओंपर खेद प्रकट कर रहे हैं कि यह शरीर सुख अथवा दुःख कुछ भी नहीं जानता है। लेकिन यह मूढ़ पुरुष, व्यामोही जीव इस शरीरमें निग्रह और अनुग्रह बुद्धि करता है। अरे निग्रह करे तो अपने कषायोंका, बुरे विचारोंका और अनुग्रह करे तो अपने स्वरूपका, ज्ञानादिक गुणोंका। इससे तो लाभ मिलेगा, भिन्न वस्तुमें निग्रह और अनुग्रह करनेसे कोई लाभ नहीं है।

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

जब तक यह जीव काय, वचन और मन—इनको आत्मबुद्धिसे ग्रहण करता है तब तक इस जीवके संसार लगा रहता है और जब यथार्थ परिज्ञानके बलसे इन तीनों योगोंसे भिन्न अपने आपकी दृष्टि रखता है तो इसको निर्वाण प्राप्त होता है।

काय वचन मनके क्रमविन्यासका मर्म— इस जीवको भूल भटकावे में भ्रमानेका कारण शरीर वचन और मनका संसर्ग है। कोई पुरुष तो इन तीनोंका नाम इस क्रमसे लेते हैं। मन वचन और काय, और कहीं कहीं इस क्रमसे नाम लिया गया है, काय वचन और मन। जैसे तत्त्वार्थ-सूत्रमें भी लिखा है—कायवाङ्मनः कर्मयोगः। उस श्लोकमें भी यही क्रम दिया गया है काय वचन और मन। इस क्रमका कारण यह है कि दिखनेमें आने वाले शरीरका योग स्थूल है। उससे सूक्ष्म है वचनका और उससे भी सूक्ष्मयोग है मनका। इस क्रमसे शरीर वचन और मन कहना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि इस शरीरके कहनेमें वचन और मन अंशरूपमें गर्भित है, पर वचनके कहनेसे काय नहीं ग्रहणमें आता और मनके कहने से भी यह काय ग्रहणमें नहीं आता इसलिए कम व्यापक है। वचन और मन व्याप्य हैं।

अज्ञानीका मिथ्या अभेदाध्यास— यह व्यामोही प्राणी शरीरमें आत्मबुद्धि बनाए हुए है कि यह शरीर मैं हूं। अज्ञानी नहीं सोचता है कि यह यह शरीर में हू क्योंकि ऐसा यदि सोचे तो इसमें थोड़ा भेद तो उसने डाल लिया, यह शरीर मैं हूं। दो चीजें तो इस वाक्यमें आ जाती हैं, पर अज्ञानी को दो की बात भी मालूम नहीं है। यह तो मैं हूं, ऐसा समझता है शरीरके सम्बन्धमे। अज्ञानी की भूलको ज्ञानी बता रहा है। इस कारण यह वचनरचना बनती है कि यह शरीरमे आत्मबुद्धि करता है. किन्तु अज्ञानी की दृष्टिमें दो चीजें है कहां शरीर और आत्मा। यह तो मैं हूं ऐसा मानता है। ज्ञानी कह रहा है यों अज्ञानी को। अज्ञानी इस शरीरको ही यह मैं हू, ऐसा मानता है। अज्ञानी की दृष्टिमें तो शरीर ही रहता है। उसका तो वही सर्वस्व है।

शरीरस्नेहसे कष्ट होने के कारण— इस शरीरके स्नेहमें कष्ट क्यों होता है ? मोटी बात तो यह है कि शरीर भिन्न वस्तु है, अतः वह अपने परिणमनसे परिणमता है। यह जीव किसी भी प्रकारका परिणमन चाहता है। इसका चाहा हुआ परिणमन चेष्टामे हो जाय ऐसा तो हो नहीं सकता ना, तब शरीरके विरुद्ध परिणमन को देखकर यह जीव दुःखी होता है। दूसरी बात यह शरीर रोगसे भरा है। इस शरीरके कारण नाना क्लेश हो रहे हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डांस मच्छर काटे, कांटा सूई कंकड़ चुभ जाय। ये अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ चलती हैं। शरीरको यह मैं हूं ऐसा मानने पर पीड़ाको भी अंगीकार कर लिया जाता है। तीसरी बात यह है कि शरीर आत्मासे भिन्न है। भिन्न 'पदार्थोंकी' ओर, अर्थात् अपने से बाहरकी ओर दृष्टि करने का स्वभाव ही क्लेश करनेका है। बाह्य चीजों में क्या होता है और किस कारणसे फिर क्लेश होता है ? यह सोचना तो दूरकी बात है, किन्तु अपने से बाहर अपनी दृष्टि लगाई कि वहां क्लेश होने लगता है। यों इस शरीरको अपनानेसे जीव दुःखी हुआ करता है।

संसारवृद्धिका उपाय— बहिरात्मा शरीरमे 'यह मैं हूं' ऐसी स्वबुद्धि ग्रहण करता है। इस कारण इसका संसार लम्बा होता चला जा रहा है। शरीरके मिलनेका ही नाम ससार है और शरीरके मिलते रहनेका उपाय है शरीरको अपनाना। शरीरको 'यह मै हूं' ऐसी आत्मबुद्धिसे ग्रहण करना यह है इन शरीरोंके मिलते रहनेका उपाय और शरीरोंके मिलते रहनेका ही नाम है संसार। यों शरीरको अपनाने से संसार होता है और जब शरीरमें और आत्मामें भेद बुद्धि कर ली जाती है, भेदाभ्यास हो जाता है तब इसका शरीरसे छुटकारा होने का वातावरण बन जाता है। अज्ञानी

शरीरको स्वबुद्धिसे ग्रहण करता है, किन्तु ज्ञानी शरीरको पर जानकर इस की उपेक्षा रखता है, आत्मबुद्धिसे ग्रहण नहीं करता है।

विवादका कारण वचन— दूसरा योग है वचनका। अज्ञानीपुरुष वचनोंमें भी आत्मबुद्धि किया करता है। जैसे जो इस मनुष्यने बोला, वचन कहे, उन वचनोंमे कोई अड़चन डाले, विघात करे, अपमान करे तो यह अज्ञानी ऐसा महसूस करता कि मेरा अपमान किया गया। उन वचनोंको आत्मारूपसे इसने ग्रहण किया। तब वचनोंके निराकरणसे इसने अपना निराकरण माना। बहुत बड़ी विपदा और विडम्बनाकी यह बात है कि इस मनुष्यके वचनोंमें आत्मबुद्धि रहा करती है। कोई अपमानकी बात कहे, गाली दे, इसके मनके प्रतिकूल कहे तो इसे कितनी पीड़ा पहुंचती है, और उसमे अपना अपमान समझ कर यह कितना झगड़ा बना लेता है ? झगड़े की जड़ अधिकतर ये वचन होते हैं।

वैर विवाद विस्तारका हेतु— गांवमे अनेक घर हैं। सभी घर अपना-अपना कमाते हैं। खाते हैं, किसीको किसी भी पराये धनकी अभिलाषा नहीं है क्योंकि ऐसा होता नहीं है कि दूसरे का धन अपनको मिल सके। ऐसी सबके मनमें बात है। इसलिए धनके कारण तो किसी पड़ौसीसे दूसरे पड़ौसी का झगड़ा नहीं होता क्योंकि उसका हिसाब तो साफ-साफ है। जो आपने कमाया, आपने जोड़ा, आपने रखा। आपके नाम पड़ा, आपके कब्जेमें है वह आपका है और दूसरोके नाम जो लिखा है, दूसरोंके कब्जेमें है वह दूसरे का है। कोई किसी दूसरेके धनपर कभी विवाद भी करता है क्या ? आज आप इस मकानमें रहते हैं तो क्या आपकी ऐसी भी इच्छा होती है कि कल हम उसके मनमें रहेंगे ? ऐसा तो आप कभी न सोचते होंगे तो धन वैभव सम्पदा पर विवाद नहीं खड़ा होता है, किन्तु वचनों पर विवाद खड़ा हो जाता है। जिससे जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है न धनका सम्बन्ध है, न वैभव सम्पदासे सम्बन्ध है, किन्तु वचनव्यवहार अनुचित हो जाय तो वहां विवाद खड़ा हो जाता है। अब आप समझो कि शरीरसे और धनसे भी बढ़कर वचनोंको कितना अपनाया है इस मोही ने। बड़ीसे बड़ी विडम्बनाएँ, बड़ेसे बड़े कलह न कुछ वचनोंके कारण हो जाते हैं। जो वचन न चिपकते हैं, न लगते हैं, न जिनकी कोई शकल दिखती है वे वचन इतने विवादके कारण बन जाते हैं कि जिसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता है।

युद्धमें जोशवृद्धिका उपाय— जब पहिले जमानेमें युद्ध होता था तो आमने-सामने दोनों सेनावोंके सुभट खडे होते थे, पर लड़ने की ताकत बढ़

इसके लिए एक सुभट उस विरुद्ध पक्षके दूसरे सुभटको अनापसनाप पहिले बातें करता था। क्या खड़ा है बेसुर्त, तुझे कुछ सुर्त भी है। तू तो एक कायरकी भांति खड़ा है। ऐसे शब्द वह बोलता था कि जिसके बदलेमें उससे भी सुननेको बातें मिलें। तब लड़नेका जोश पैदा होता था। इतना वचनोंका संसर्ग है, सम्बन्ध है और अपनायत है, इन वचनोंकी अपनायत से भी यह मोही प्राणी बड़े क्लेश सहता रहता है।

इन वचनोंको बाणकी उपमा दी जाती है। जो खोटे वचन बोले, वे बाणकी तरह दूसरेके मर्मको छेद देते हैं। यदि वचन बाण हैं तो मुख तो धनुष हो गया। जब कभी गुस्सेमें आकर कोई मुंह तानकर बोलता है तो उस समय उसके मुंहका आकार भी तना हुआ धनुष जैसा हो जाता है और उसके बीचसे फिर वचनका बाण निकलता है, जिसके यह वचनबाण लग जाता है, वह फिर पागल होकर प्रतिक्रियाकी बात सोचने लगता है। इन वचनोंको इस मोही प्राणीने आत्मरूपसे ग्रहण किया है और इसीलिए इसका दुख और बढ़ता जाता है।

मनका उत्पात— तीसरा योग है मनका। यह मन दिखता भी नहीं है, बड़ा सूक्ष्म है। दूसरेके मनका भी हम ज्ञान नहीं कर सकते हैं, इतना सूक्ष्म है यह मन, किन्तु मनका जो योग है, मनकी जो चेष्टा है, विचारोंकी जो कल्पना है, यह बड़े दुःखका कारण बन जाता है। आज भी और पहिले भी, सदासे यह सुखिया मनुष्य, यह सुखिया जीव, जिसको खाने पीनेका और सब प्रकारका अच्छा साधन लगा हुआ है, यह भी निरन्तर दुखी रहा करता है। काहेका दुख है ? भोजन भी मिलता है, कपड़े भी हैं, आराम भी हैं, किन्तु देखिए कि यह दुख किस बातका है ? यह सब मनका दुख है।

भैया, इस मायामयी दुनियामें जहा कुछ रहने वाला नहीं है अथवा ये मायामयी मूर्तियां जो स्वयं मलिन हैं, पतित हैं, कर्मके प्रेरे हैं, इन मायामयी मूर्तियोंमें जहां यश चाहा, पोजीशन चाही, बस वहीं नाना खोटी दशायें बन जाया करती हैं और यह जीव दुखी हो जाया करता है। मनके अनुकूल बात न होनेमें यह कितना व्यग्र हो जाता है, जिसका क्लेश इस काय और वचनसे भी अधिक है। देखिए कि स्थूलतामें तो काय स्थूल है ही, वचन कम स्थूल हैं, मन उससे भी कम स्थूल है, पर क्लेशका कारण बननेमें कायसे बड़ा है। क्लेशका कारण वचन है और वचनोंसे भी बड़ा क्लेशका कारण मन है।

मनके प्रसाद व अप्रसादका महत्त्व बताने वाली कहावत— "लोग

तो कह देते हैं कि मनचंगा तो कठौतीमें गंगा। कठौती जानते हो किसे कहते हैं ? काठकी परात, जिसमें चमड़ा बनाने वाला चमड़ा भिगोकर जूते बनाता है, उसे कठौती कहा करते हैं। चर्मकार उस कठौतीमें बार-बार चमड़ा भिगोता है। एक कोई घटना सुनते है कि एक ब्राह्मण गङ्गामें नहाने जा रहा था तो चर्मकारने कहा कि पण्डित जी हमारे दो पैसे लेते जावो और गंगामैयाको हमारे दो पैसे और ये फूल चढ़ा देना और देखो कि जब गंगामैया हाथ निकाले, तब उसके हाथमें चढ़ाना। ऐसे ही न फेंक देना। दो पैसे और फूल उस ब्राह्मणने ले लिए और मनमें सोचा कि अरे भाई, गङ्गामैया हाथ कहां निकालती है ? खैर दो पैसे और फूल ब्राह्मणने लेकर कहा कि चढ़ा देंगे। अब वह गङ्गा किनारे पहुंचा और सोचा कि दो पैसेका कुछ खाने-पीनेका ही ले लें और फूल फेंक दें। जब पण्डितजी गङ्गा स्नान करके वापिस लौटे तो चर्मकारने पूछा कि पण्डितजी, हमारे दो पैसे और फूल चढा आए ना ? हां चढ़ा आए। तो गङ्गामैयाके हाथमें ही चढाया था ना ? अरे गंगामैया कहीं हाथ भी निकाला करती है क्या ? चर्मकारने कहा कि यह तो तुमने ठीक नहीं किया, न हाथ निकालती गंगा मैया तो न चढ़ाते।

अब ब्राह्मणने एक दो बातें सुनाईं तो चर्मकार कहता है कि हम तो फूल और पैसे अभी चढायेंगे। गंगामैया हाथ निकालेगी तो चढायेंगे, नहीं तो न चढ़ायेंगे। अब वह गंगामैयाका ध्यान करके बैठ गया और कहा कि हे गंगामैया ! मेरे ये फूल ग्रहण करो। अब गंगामैयाने उस कठौतीसे हाथ निकाला और फूल ग्रहण किए। ऐसा हुआ नहीं होगा और हुआ भी होगा तो कौतूहल करने वाले व्यन्तर बहुतसे फिरते हैं तो उनमेंसे किसीने अपना हाथ निकाल दिया होगा, तभीसे यह बात प्रसिद्ध है कि मनचंगा तो कठौतीमें गंगा।

मनका महाक्लेश—भैया ! मनकी प्रसन्नता और अप्रसन्नताका इतना बड़ा हिसाब है, सब आराम हैं, । कोई सेठ है, करोड़पति भी है, सैकड़ों हजारों पुरुष जिसकी हजूरीमें रहा करते हैं, ऐसे पुरुष भी मनसे चाह की कि बस इतनेसे ही दुःखी हो जाते हैं। मनचाही बात किसीकी पूरी फलती नहीं है, क्योंकि कोई बात फल भी जाए तो मन आगेकी चाह कर बैठता है। तो वह कर्जा तो बराबर बना ही रहता है। कहां तक कमायी हो ? कहां तक बाह्यपदार्थोंकी पूर्ति हो ? पूर्ति हुई कि मनसे फिर आगेकी बात की चाह करी। इस प्रकार मनका क्लेश भी बहुत बड़ा क्लेश होता है।

मनके क्लेशका एक दृष्टान्त— एक गरीब ब्राह्मण राजाके पास गया और कहा कि महाराज ! हमारी कन्याकी शादी है, सो कुछ अच्छी तरहसे हो जाय, सो ठीक है। राजाने कहा कि जावो, तुम कल जो मांगोगे, सो दिया जाएगा। अब वह बड़ा खुश होता हुआ घर आया और एक खरेंड़ी खाट पर लेट गया। उसे नींद न आए। रोज वैसे ही लेट जाता था, और नींद आ जाती थी, पर उस रात नींद न आयी। सोचा कि कल मैं राजासे क्या मांगू ? हो न हो १०० रु० मांग लूँ। उस गरीबके दिमागके लिए १०० रु० बहुत थे। फिर सोचा कि १००) तो अमुकके पास हैं, वह भी सुखी नही है, तो हजार मांगू। अरे हजारपति तो अमुक भी है, वह भी सुखी नहीं है तो लाख मांगू। अरे अमुक लखपति है, वह भी सुखी नहीं है। न हो तो करोड़ मांगू। अरे अमुक सेठ भी तो करोड़पति है, वह भी तो सुखी नहीं है। फिर मनमें आया कि राजासे आधा राज्य मांग लूं। अरे आधा शासन तो हमारा चलेगा और आधा राजाका चलेगा, लेकिन लोग यह कहेंगे कि इसका आधा राज्य मागा हुआ है। न हो तो पूरा ही राज्य मांग लूं।

अब आया प्रातः और प्रभुभजनका समय हुआ। अब वह प्रभुका भजन करते हुए मे सोचने लगा कि अरे राज्यमें क्या सुख है ? देखो कि राजा भी तो दुखी है, इन्हें रात दिन चैन भी न आती होगी। जैसे आजकलके राजावोंको देख लो। अब सोचा कि राज्य लेनेमें तो बहुत ही बड़ी विडम्बना है। करोड़ मागूं क्या ? नहीं नहीं, करोड़ भी लेने ठीक नहीं हैं। लाख मांगू ? अरे लाख भी मागना ठीक नहीं है। हजार ही ठीक हैं, अरे हजार भी ठीक नहीं हैं। १०० रु० ही अच्छे हैं। लो १००) से शुरू किया था और १००) पर ही आ गया। अचानक ही राजा वहांसे निकला और राजाने कहा कि कहो विप्रदेव ! क्या चाहते हो तुम अपनी कन्याकी शादी के लिए ? सो वह हाथ जोड़कर बोला कि महाराज माफ करो। जब हमने आपसे कुछ मांगा न था, तब तो नींद नहीं आयी और जब आपसे मांग लूंगा तो न जाने मेरा क्या हाल होगा ? तो राजन् माफ करो, हम जिस स्थितिमें हैं, उसमें ही भले हैं।

देहविविक्तताका दर्शन— भैया ! मनकी विडम्बना देखो कि बड़े ही आरामके साधन हैं, तब भी यह मोही जीव सुखी नहीं रह सकता है। यों शरीर, वचन और मन, इनको जब तक यह जीव आत्मबुद्धि करके ग्रहण करता है, तब तक इसका संसार और लम्बा होता है और जब इन तीनोंसे भिन्न ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपका आश्रय लेता है। इस आश्रयके प्रताप

फिर यह देह, यह पुद्गल अपने द्रव्यसे अपने ही गुणपर्याय रूप है। यह मै आत्मा क्षेत्रदृष्टिसे- अपने ही प्रदेशमें रहने वाला हूं और यह शरीर क्षेत्रदृष्टिसे देहके अपने आपके ही प्रदेशमें रहने वाला है, यह सब भेद-विज्ञानकी बात है। जिसे भेद विज्ञान हो गया है उसे थोड़ीसी ही दृष्टिमें भेददर्शन की तैयारीके ही संकल्पमें यह भद दिख जाता है और जिसे इसका दर्शन नहीं हुआ है, इस देहसे विविक्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके वह अगल बगल यहां वहां धर्मकी खोज करता है, हैरान हो जाता है, पर धर्मकी प्राप्ति नहीं होती है।

काल और भावकी दृष्टिसे आत्माकी देहसे विविक्तता— यह मै आत्मा कालदृष्टिसे अपने ही पर्यायका सृजन करने वाला हूं, अपने ही पर्यायरूप था, अपने ही पर्यायरूप हूं, अपने ही पर्यायरूप रहूंगा। यह देह यद्यपि मेरे एक क्षेत्रमें अवगाहित है। जहां मैं हूं वहीं देह है। मेरी क्रिया हो तो देहकी क्रिया साथ है, देहकी क्रिया हो तो मेरी क्रिया साथ है। ऐसा घनिष्ठ संसर्ग होने पर भी यह मैं आत्मा अपने ही पर्यायोंसे परिणमता हूं और यह शरीर अपने ही पर्यायोंसे परिणमता है कालदृष्टिसे भी मै इस शरीरसे अत्यन्त विविक्त हूं, भावदृष्टिसे, गुणोंकी अपेक्षासे यह मै आत्मा अपने आपमें ही तन्मय शाश्वत शक्तियोंरूप हू, चैतन्यशक्तिरूप हूं और यह देह अपने आपके जातिका उल्लंघन न करता हुआ अपने आपकी शक्तिरूप है। यों यह मैं आत्मा इस शरीरसें अत्यन्त न्यारा हूं।

आत्मपुष्टिका पुष्ट उपाय— देहसे भिन्न निज स्वरूपास्तित्वमात्र ज्ञानानन्दस्वरूपकी जिसने प्रतीति की है, ऐसे पुरुषको आत्मतत्त्व अपने यथार्थज्ञानकी खुराकसे पुष्ट नजर आता है और जहां जितना कुछ ज्ञात रहता है उतना इसमें पुष्ट नजर आता है। किन्तु शरीरके किसी भी प्रकार के संसर्गसे यह पुष्ट और अपुष्ट अपनेको नहीं मानता है। देह कैसा ही हो, मोटा हो, पतला हो, व्याधियुक्त हो, प्रत्येक स्थितिमें अपने आपके आत्मतत्त्वको इस देहसे रहित निरखिये। जब देहसे भी भिन्न अपने आपको मैं देखूँगा तो अन्य पदार्थोंसे मिला हुआ तो देख ही क्या सकूँगा, ऐसे परमविविक्त चित्स्वभावमय अपने आपको यह अन्तरात्मा जानता है, वह देहमें पुष्ट होनेसे अपने आत्माको पुष्ट नहीं मानता है। यों यह अन्तरात्मा ऐसे विशद देहसे भेदाभ्यास करके अपने आपको मोक्ष मार्गकी ओर उन्मुख करता है, यह उपाय शांतिका है। शान्तस्वरूप अपने आत्मतत्त्वके दर्शन करना यही उत्कृष्ट पुरुषार्थ है।

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः।

जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ॥६४॥

जीर्ण देहमें भी विविक्त ब्रह्मस्वरूपका प्रदर्शन— जैसे वस्त्रके जीर्ण हो जाने पर कोई पुरुष अपने को जीर्ण नहीं मानता है इसी प्रकार अपने देहके जीर्ण हो जाने पर भी यह ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्माको जीर्ण नहीं समझता है। जीर्णका अर्थ है कमजोर होना, बोदा होना या कुछ फट सा जाना। यदि वस्त्र प्राचीन हो गया है और जीर्ण हो गया है तो फटे कपड़े को पहिने हुए कोई पुरुष क्या ऐसा सोचता है कि मैं फट गया हू ? सम्भव है कोई ऐसा भी व्यामोही होगा कि कपडेकी दशाको देखकर अपने को भी उसी प्रकार दुर्गत समझ लेता हो ? होगा कोई ऐसा कहने वाला फिर भी वह भीतरमें यह जानता ही होगा कि यह कपड़ा है और यह मैं अलग हूं। यहां मैं से मतलब इस देहसे है क्योकि श्लोकके पूर्वार्द्धमें अज्ञानियोंको समझाने के लिये प्रयत्न होनेसे अज्ञानी की चर्चा की गई है। अज्ञानी भी फटे कपडे पहिनने पर अपने को फटा नहीं मानता है।

अज्ञानियोंकी किसी विविक्तताके दृष्टान्तसे विविक्तताका पोषण— भैया ! कोई आवेशमें भले ही वस्त्रकी दुर्गतिसे अपनी दुर्गति कहदे। जैसे एक बाबूने कोट बनवाया। दर्जी की ही दुकान पर उस कोटको पहिना। पहिनकर देखा कि ठीक है कि नहीं ? दृष्टि गयी कि कंधेके पास सिकुड़न बन रही है। वह मिटती ही नहीं है तो उस सिकुड़नको देखकर बाबू साहब कह बैठते हैं कि इसने तो मेरा नाश कर दिया। जरासी कोट मे सिकुड़न आयी और इस शब्दसे भी पुकार देते हैं कि इसने हमारा नाश कर दिया। और कुछ अपने पर मेहरबान हुए तो कह देते हैं कि हमारे कपड़ेका नाश कर दिया। पर ऐसा कहने पर भी अन्तरमें यह समझ बनी भई है कि मेरा नाश नहीं हो गया, मैं जीर्ण नही हो गया। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष देहके जीर्ण हो जाने पर भी अपनेको जीर्ण नहीं समझते हैं।

देहकी जीर्णता होने पर भी ज्ञानीके आत्मतत्त्वकी पुष्टि— बुढापा हो गया, यह जीर्ण ही तो शरीर हो गया। जरा बुढ़ापेका नाम है और जरासे जो ग्रस्त है, उसका नाम जीर्ण हो गया। जिसके देहमें और इस आत्मामें एकत्वबुद्धि है, वे ऐसा नहीं समझ पाते हैं कि यह शरीर ही बूढ़ा हुआ है। इस शरीरकी ही यह दशा हुई है। मैं तो सदा अपने स्वरूपमात्र सदा जवान रहता हू अर्थात् अपने स्वरूपमय रहा करता हूं—ऐसा अज्ञानी नहीं सोच पाता है। ज्ञानी पुरुष वृद्ध हो जाने पर भी अपने अन्दरकी चेतनाको निरखते हैं। उन्हें विशद बोध है कि मैं बूढ़ा नहीं हो गया हूं।

न चलें हाथ पैर तो न सही, न उठ सकें खाट पर से तो न सही, स्वयं ही करवट नहीं बदल सकते न सही, बुढ़ापेका बहुत प्रकोप आ गया है, इतने पर भी यह ज्ञानी अपने अन्तरमें जानता है कि यह इस शरीरकी दशा है, मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र इस देहकी दशासे विविक्त हूं और सदा ही पुष्ट हूं।

बुढ़ापेमें ज्ञानीके ज्ञानप्रकाशकी बुद्धि— जो ज्ञानी संत पुरुष अपने सारे जीवनमें व्रत, तप, संयमकी साधना करते हैं, वे भी तो बूढ़े होते है ना। उनका ज्ञान पुष्ट है और ज्यों ज्यों बुढापा उनके आता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान जवान होता जाता है, क्योंकि अनुभव, भेदविज्ञान बढ़ा चढ़ा है और जब असार अवस्था होने लगती है, तब वैराग्य बढने लगता है और जब मरणकाल जान लिया तो वहां ही सब राग छूटनेका मौका आ जाता है। ऐसा ज्ञानीसंत बुढ़ापेमें और जवान होता है। ज्ञानकी अपेक्षा प्रबल बलवान् पुष्ट होता है और शरीरको जीर्ण हुआ जान रहा है। ज्ञानी जीर्ण-देहसे भी अपने आत्माको जीर्ण नहीं समझता है।

शरीरकी जीर्णताके कारण— शरीरके जीर्ण होनेके दो कारण हैं। एक तो सामान्यतया पुद्गलके नातेका कारण है। कोई भी पुद्गल हो, बहुत समयकी स्थितिके बाद पुराना पड़ जाता है, कमजोर हो जाता है। जिसमें अब जीवका सम्बन्ध नहीं रहा है, वह स्कन्धमें काठ, पत्थर, लोहा, ये सभी समय गुजरने के बाद कमजोर हो जाते हैं। लोहे जैसा पुष्ट पदार्थ भी बहुत समय गुजरनेके बाद कमजोर पड़ जाता हैं। सभी पदार्थ समय गुजरने पर जीर्ण हो जाते हैं। एक तो इस पुद्गलके सामान्य नातेसे यह शरीर भी जीर्ण हो जाता है, पर एक और विशेष कारण लगा हुआ है कि इस भवकी आयुकी स्थिति है। सो जैसे मनुष्य और तिर्यंचोंमें आयु ऊँचे से आगे बढने लगती है तो उसका भी सहयोग ऐसा होता है कि यह शरीर ऐसी वृद्धावस्थाको प्राप्त हो जाता है। उस समय आहारवर्गणावोंके प्रकरण का आना तो रहता है, मगर उनका संकलन संग्रहण अंगीकरण अपेक्षाकृत पहिलेसे कम हो जाता है और यह शरीर, यह चाम अपनी अस्थियोंके स्थानको कम ग्रहण करता है, जगड़नेसा लगता है। ऐसी जीर्ण स्थिति होना आत्माका काम नहीं है।

आत्मा तो ज्ञानबलसे पुष्ट है और ज्ञानबल न हो तो वह अपुष्ट है, आकुलित है, विह्वल है, गरीब है। ज्ञानीपुरुष अपनी ओर बढ़ती हुई उम्र में और वृद्धावस्थामें अन्तरमें प्रबल होता है, बलवान् होता है, उसका ज्ञान पुष्ट हो जाता है।

**भेदाभ्यासके प्रकरणमें भेदाभ्यासका अन्तिम अवस्थामें भी समर्थन**— यहां यह प्रकरण चल रहा था कि जब यह जीव शरीर, वचन और मनको आत्मबुद्धिसे ग्रहण करता है, तब इसका जन्ममरण बढ़ता जाता है और जब इस शरीरसे अपने आत्माको भिन्न निरखता है और ऐसा भेदज्ञानका अभ्यास प्रबल हो जाता है तो इसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है। उसी भेदविज्ञानके सम्बन्धमें कुछ विस्तार बतानेके लिए स्वतन्त्ररूपसे ये श्लोक कहे जा रहे हैं और लौकिकजनोंको समझाना है, इस कारण ये लौकिकजन जैसे उस भेदविज्ञानकी बात शीघ्र समझ सकें, उन लोकोंकी घटनाओंको बताकर कहा जा रहा है कि देखो पहिने हुए वस्त्रके जीर्ण हो जाने पर, फट जाने पर कोई अपनेको फटा हुआ नहीं मानता है।

लोग अच्छा भी वस्त्र पहिनते हैं और पहिनी हुई हालतमें कहीं कील छिद गई, कांटा छिद गया तो थोड़ा जीर्ण हो जाता है, फट जाता है—ऐसी स्थितिमें वह पुरुष यह सोचे कि मैं फट गया हूं तो ऐसे सोचने वालेको आप पागल ही कहेंगे। जैसे उसे इस पहिने हुए वस्त्रसे भी अपने आपके न्यारापनकी श्रद्धा है, चाहे माना उसने देहको ही आत्मा, आत्मा को आत्मा नहीं माना, पर उस वस्त्रको तो न्यारा माना ना अपनेसे। ऐसे ही ज्ञानीपुरुष इस शरीरके जीर्ण होने पर, सड़ने पर अपने आपको सड़ा और जीर्ण नहीं मानता है।

**सन्मार्गका परिणाम**— भैया! पूर्वकालमें एक ऐसे मुनिराज हुए हैं, जिन्हें मुनि अवस्थामें विशेष रोग हो गया, कोढ़ भी हो सकता है, अन्य व्याधियां भी हो सकती हैं—ऐसी स्थितिमें भी उन्होंने अपनेको कोढ़ी रोगी अनुभव नहीं किया। अपनेको ज्ञानानन्दमात्र देखा और अनुभवा। उस ही के प्रतापसे उन्हें केवलज्ञान हुआ और जैसे केवलज्ञान हुआ तो वह रोगी जीर्ण शरीर एकदम परमौदारिक हो गया और पुष्ट बन गया। ज्ञानी पुरुष इस देहके जीर्ण होने पर भी अपनेको जीर्ण नहीं समझते अथवा जैसे पहिले श्लोकमें यह बताया गया था कि देहके मोटा हो जाने पर भी अपने को मोटा न समझना, घन न समझना, ऐसे ही उसी कथनके निकट उसके प्रतिपक्षमें कह रहे हैं कि देहके दुर्बल हो जानेसे अपनेको कहीं दुबला नहीं मान लेना। अरे इस आत्मतत्त्वके अनुभवके समय तो शरीरकी याद भी नहीं रहती है। क्या है शरीर, है भी शरीर? इस ओर उसकी दृष्टि भी नहीं रहती है। वह तो अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाशको ही निरखता है। ऐसा ज्ञानीपुरुष इस देहको स्वबुद्धिसे ग्रहण नहीं करता है।

**अज्ञानीका मिथ्या अभेदाभ्यास**— अज्ञानी पुरुष इस देहमें और इस

से मोक्षमार्ग प्रकट होता है और निकट भविष्यमें समस्त संकटोंसे इसे मुक्ति मिल जाएगी। अतः हम सब कल्याणार्थियोंको चाहिए कि काय, वचन और मनसे अपनेको विविक्त ज्ञानमात्र निरखें।

घने वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते बुधः।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते तथा ॥६३॥

जिस जीवके शरीर और आत्मामें भेदाभ्यास दृढ हो जाता है, वह अन्तरात्मापुरुष शरीरकी किसी भी अवस्थाके होने पर उस रूप अपनेको नहीं मानता है। जैसे कोई पुरुष बड़ा मोटा कपड़ा पहिन ले तो कहीं वह अपनेको मोटा नहीं मान लेता है। कोई दुर्बल सूखा पुरुष रुईदार बण्डी, कुर्ता, कोट पहिन ले तो कही वह अपनेको मोटा नही मान लेता है? इसी प्रकार यह देह कितना ही मोटा हो जाए, फिर भी यह ज्ञानीपुरुष अपनेको मोटा नहीं मानता है। पर्यायव्यामोही पुरुष एक इस शरीरको, मैं बलवान् देखूं, सबसे ज्यादा बलवान् पुष्ट होऊं, इस ख्यालसे पहलवानीका व्यायाम करता है, श्रम करता है; पसीना चू रहा है, कितनी ही दण्डबैठक हो गयी हैं और बीच बीचमें अपने भुजा अपनी वक्षःस्थल व अग देखता जाता है, मैं बहुत मजबूत हूं, पुष्ट हो गया हूं, मोटा हो गया हूं। इस प्रकार ये सब व्यामोही पुरुष अपनेको ही बहिर्मुख कर रहे हैं। इन व्यामोही पुरुषोंको यह दृष्टि नहीं प्राप्त हुई है कि आत्मा तो ज्ञानबलसे भी बलवान् है। ज्ञान बल नहीं है तो यह देह कितना भी पुष्ट हो जाए, उसे कहीं धैर्य, चैन, साहस नहीं हो जाएगा।

अज्ञानीका भ्रम— अज्ञानी पुरुष देहसे मोटा, तगड़ा, पुष्ट होनेसे अपनेको तगड़ा मानता है। शरीरधर्मके नाते स्वस्थ रहनेके लिए थोड़ा श्रम करे, व्यायाम भी करे, थोड़ा काम करे, परोपकार करे, पर मैं शरीर से पुष्ट होऊं और मैं दुनियामें सबसे अच्छा कहलाऊं, इस भावसे शरीरको तगड़ा बनानेका यत्नके मायने है कि अपने आपको जड़ मान लिया और ऐसी ही स्थितिमें व्यायाम करके तो यह पसीनेसे लथपथ कर देगा। श्रम करेगा और किसी दुःखी को कोई बोझा उठाकर सिर पर भी रखाना हो तो उसके लिए श्रम न होगा। अरे दुखियोंका उपकार करनेमें दोनो बातें निभती हैं, शरीरका व्यायाम भी हो जाता है और दूसरोंका दर्द मिटता है। आत्माको बल मिलता है, बुद्धि ठिकाने रहती है। यदि वह यों देखे कि उपकार करते हुएमें पूरा श्रम नहीं होता तो उसकी कसर फिर खूब दण्ड-बैठक करके निकाल लेवे; परन्तु प्रवृत्ति परके उपकारके लिए न हो, हमारे शरीरका कोई श्रम नहीं हो और शरीरकी पुष्टिके ख्यालसे बड़ा व्यायाम व

श्रम करके अपनेको पसीनेसे लथपथ कर लिया जाए, यह क्या है ? पर्याय-व्यामोह है ।

सदृश बाह्यवृत्तिमें भी आशयका अन्तर— भैया ! किसी भी कार्यमें आशयके भावसे अपनेमें बड़ा भेद हो जाता है । महलोंमें, घरोंमें जगह जगह दर्पण रखे हैं । दर्पण उठाया और देखा । यह देखना किसलिए है ? मैं खूबसूरतीमें ठीक हूं या नहीं, कुछ कमी तो हमारे शृंगारमें नहीं रह गयी, इस कामके लिए वह दर्पण है । बाल बन रहे हैं, दर्पण लिए हैं और संतोष करते जा रहे हैं, यह ठीक शृंगार कर रहा है । थोड़ी भी गड़बड़ हुई तो टोक दिया जाएगा कि अरे ठीक बना । कपड़ा पहिनकर चलेंगे तो अब कोटकी कालर तो दिख नहीं सकती, सो अब कोटकी कालर देखनेको दर्पण ही तो चाहिए । उसको दर्पणमें मांग सम्भालनी है । टोपी ठीक है या टेढ़ी लगी है या नहीं, उसको भी दर्पणमें देखा । यों मोहीजनोंका दर्पणमें देखना शृंगारके लिए होता है, किन्तु किसी किसीका दर्पणका देखना भी वैराग्यके लिए हो जाता है ।

सुबह किसी गुरु या देवका दर्शन करे और न कर सके तो अपने ही चेहरेका दर्शन करे । क्यों करे ? यह ज्ञानीकी कथा है कि चेहरेको देख लेगा तो दो बातें वह अपनेसे अपने हितकी कहेगा । इतने दिन जीवनके बिताए, अपने भलेके लिए कुछ काम कर पाया तूने या नहीं ? यह जिन्दगी यों ही ढली जा रही है । जल्दी चेत, कल्याण कर, विवेकी पुरुषको आईनेमें अपना चेहरा देखने पर, किन्तु पर्यायव्यामोहीको या तो शरीरके बूढ़े होने का या कोई सौन्दर्य मिटनेका दुःख होगा या खूबसूरती नजर आनेसे यह व्यामोही पुरुष हर्ष मानेगा । ऐसी अन्तर्वृत्ति ज्ञानी और अज्ञानीमें विलक्षण होती है ।

अज्ञानी और ज्ञानीकी पुष्टिनर्कणा— ज्ञानी इस देहकी किसी अवस्थासे अपनेमें कोई क्षोभ नहीं लाता है । बस्त्र मोटा होने पर कोई दुबला शेखी मारे तो उस शेखीसे कहीं ताकत तो न आ जाएगी । भले ही मारे शेखी । यों ही देहके पुष्ट होनेसे अपनेको पुष्ट मानने वाले अज्ञानी पुरुषके कहीं शांति तो न आ जाएगी, आत्मबल तो नहीं आ सकता है ? देहसे अपने आत्माका भेदविज्ञान करना, यह करण ज्ञानीके सुदृढ़ है । जैसे लोग बाहरी बातोंमें तैयारी देखकर मेरा घर अब चारों ओरसे मजबूत है, मैंने देशमें, समाजमें सब तरहसे अपनी मजबूती बना ली है । अब मुझे कुछ डर नहीं है । यों बहिरात्मापुरुष सोचता है तो अन्तरात्मापुरुष अपने ही आपके भीतरकी तैयारी करके संतोष करता है । अब मैंने अपने आत्म-

स्वरूपको परख लिया है। अब मुझे अरक्षाका कोई भय नहीं है। मुझे परवस्तुकृत इस लोकमें अथवा परलोकमें कहीं भी विपदाकी शंका नहीं है। मेरा सब कुछ मेरेमें ही बसा है। मैंने अपने आपको खूब तैयार कर लिया है, अब भय नहीं है। यह ज्ञानी पुरुष अपनी आंतरिक पुष्टिसे अपने को पुष्ट समझता है।

प्रतिक्षण समाधिकी आवश्यकता— लोग कहते हैं कि शास्त्रोंमें लिखा है कि मरण समयमें यदि कोई भय कर ले, शंका कर ले, व्यामोही हो जाए तो उसकी दुर्गति होती है। मरणमें भी कष्ट होता है और मरकर उत्पन्न भी दुर्गतिमें होता है। तब मरणसमयमें समाधिभाव रहना चाहिए। मोह न हो, किसी वस्तुमें राग और द्वेष न जगे—ऐसी शुद्ध वृत्ति होनी चाहिए, पर ऐसा हो जाना कोई मरणके समय ही कर ले, जीवनभर कुछ साधना न करे तो यह बहुत कठिन बात है। इसके लिए हमको जीवनभर इसकी साधना करनी चाहिए। हम आप सबका रोज रोज क्षण क्षणमें मरण हो रहा है।

मरण दो प्रकारके होते हैं—एक आवीचिमरण और दूसरा तद्भवमरण। मरण नाम इसीका तो है कि आयुका क्षय हो जाए। जिसकी आज ५० वर्षकी उमर है, इसका क्या यह अर्थ नहीं है कि ५० वर्षकी आयु का क्षय हो चुका है? यदि ६० वर्षकी उमर है तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि ६० वर्षकी आयुका क्षय हो चुका? प्रतिक्षण आयुका क्षय हो रहा है, यह है आवीचिमरण। मनुष्य आयुका जब भी कभी समग्र क्षय हो जाएगा तो उसका नाम है अपना तद्भवमरण। जैसे तद्भवमरणमें समाधिकी आवश्यकता है, वैसे ही अवीचिमरणमें अर्थात् प्रतिक्षणकी समाधिकी आवश्यकता है।

मोहमें संकटोंका स्वागत— भैया! मोह रागद्वेष परिणाम होनेके बराबर अन्य कुछ संकट नहीं है। कौनसी वजह है कि संसारके अन्य सब अनन्त जीवोंको तो गैर करार किया है और घरके दो-चार छः प्राणियोंको अपना कबूल किया है? कौनसी वजह है, कौनसा सम्बन्ध है? युक्तिपूर्वक किसी भी प्रकार बताओ तो सही। इस मायामयी दुनियामें जो कि प्रकट असार-मलिन संसारी प्राणियोंका झमेला है, मोहकी नींदका स्वप्न है, उस स्वप्नमें किसीको अपना मान लें तो इससे क्या कोई अपना हो सकता है? जो बात जैसी नहीं हो सकती है, उसको वैसा करनेका यत्न करे कोई तो उसे मूढ़ कहा ही जाएगा। कोई कोल्हूमें बालू भर भर कर बलोंको जोतकर पेले तो क्या विवेकीजन इसमें आस्था रख सकते हैं?

तालावोंमें से कमल तोडकर अथवा कमलगट्टे के बीज लेकर कोई पहाड़ों पर बिखेरे कि यहां खूब सारे कमलके फूल हो जायेंगे तो क्या कोई उसे विवेकी कहेगा ? यों ही समझो कि संसारके अनन्त जीवोंको गैर मानकर दो चार जीवोंको श्रद्धामें अपना मान लें तो ऐसी मान्यता करने वालेको क्या बुद्धिमान् कहा जाएगा ?

अतीत त्रुटियोंके सुधारका यत्न— भैया ! व्यवस्थाकी बात अलग है और श्रद्धाकी बात अलग है । व्यवस्था तो गले पड़े बजाय सरे जैसी बात है । नहीं है इतना आत्मबल कि सबकी अपेक्षा त्याग कर केवल ब्रह्मस्वरूपसे ही अपना वास्ता रखे । क्या पड़ा है प्रयोजन ? अपने आपमें स्वयं ज्ञान और आनन्द भरा हुआ है । स्वभावतः क्लेशोंका यहां नाम नहीं है । शुद्धनयसे देखो अथवा जब शुद्ध विकास हो जाता है, तबकी स्थितिसे देखो तो यह धर्मादिक द्रव्योंकी तरह अपने ही गुणोंके परिणमनसे शुद्ध अर्थपर्यायरूप परिणमता रहता है । इसे क्लेश कहां है ? परन्तु जहां पर भी अपनी स्वभावदृष्टिको तजा और बाहरमें दृष्टि लगायी कि क्लेश ही क्लेश हो जाते हैं । जो पुरुष यह विश्वास रखते हैं कि ये घरके लोग, स्त्री पुत्र मेरे हैं, वे मिथ्या आशय वाले हैं । उनके हृदयमें धर्मका प्रवेश नहीं हो सकता है । अपनी व्यतीत हुई गलतियोंका बढाना अच्छा नहीं है । अपनी गलतियोंका सुधार करनेमें भला है ।

ज्ञानी की श्रद्धा— यहां श्रद्धाकी बात कही जा रही है । प्रत्येक पुरुष अपने चित्त मंत्रीसे पूछ सकता है । जान सकता है कि मैं परपदार्थके प्रति उनको अपना माननेकी श्रद्धा रख रहा हूं या नहीं ? इसका अन्य किसीसे फैसला नहीं हो सकता और जो अंतरंगमें परजीवोंके प्रति ऐसा विश्वास बनाये रखते हैं उनको अनाकुलताकी प्राप्ति नहीं हो सकती । कैसेप्राप्ति हो? पर दृष्टिका भाव हो आकुलताको लिए हुए है । ज्ञानीपुरुषने देहमें और आत्मामें ही भेदविज्ञान किया है । वह देहकी स्थितिसे उस प्रकार अपनेको नहीं मानता है । ऐसे शुद्ध स्वच्छ आशय वाले ज्ञानस्वभावका जिसने उपयोग द्वारा अनुभवपद्धतिमें दर्शन किया है वह पुरुष देहकी स्थितिसे अपनी स्थिति नहीं मानता है । देह हो जाय मोटा तो यह ज्ञानी अपने आपको घन अथवा मोटा नहीं मानता है ।

द्रव्य और क्षेत्रकी दृष्टिसे आत्माकी देहसे विविक्तता— ज्ञानीको यह दृढ़तम विश्वास है कि मैं अपने द्रव्यसे अपने गुणपर्यायरूप हूं । यह शरीर एक तो पुद्गलद्रव्य है ही नहीं, पुद्गल द्रव्यका समूहरूप एक पिण्ड है, जो उपचारसे पुद्गल कहा जाता है । यह अनेक द्रव्योंका पिण्ड है और

जीवमें ऐसी एकत्वबुद्धि किए हुए है कि वह इस रूपमें ग्रहण नहीं कर रहा है कि यह जो देह है, सो मैं हूं, यों अनुभव नहीं कर रहा है। उसे कहां खबर है कि मैं कुछ और हूं, देह कुछ और है। जो दो कर्ताके रूपमें वाक्य बनाए, यह और मैं हूं। यह जो देह है, सो मैं हूं—ऐसे वाक्यमें भी कर्तामें अभेदभाव नहीं आ सकता है। उसकी तो शरीरमें ऐसी बुद्धि है, जैसे कोई एक गोल घड़ा हो तो उसे लोग कहते हैं कि इस घड़ेकी गोलाई बहुत ही अच्छी है अथवा इस घडेमें गोल आकार है। भले ही कहते जावो कितनी बातें, पर गोल आकार और घड़ा ये क्या न्यारी न्यारी चीजें हैं? गोल आकार आदि रूपमें परिणत यह पदार्थ ही घड़ा है। जैसे यहां घडेमें और घडेके उस संस्थानमें भेद नहीं है, बस वह तो वैसा है, जैसा है। जैसा है, वैसा वर्णन करनेमें भेद आता है, पर वह घट तो घट ही है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव इस देहमें यह मैं आत्मा हूं--ऐसा अनुभव नहीं करता, किन्तु मैं हूं। मैं शब्दका यहां उस चित्स्वभावसे अर्थ न लेना, यह अज्ञानीकी "मैं" है। जो यह मायामयरूप देहपिण्ड है, उसको ही यह अज्ञानी मैं मान रहा है। वह तो इस देह और मैं में अपनी एकत्वबुद्धि बनाए है। उसे यह होस नहीं है कि यह जो देह है, सो मैं हूं। उसकी दृष्टिमें यह देह न्यारा कहां है, जो यह मैं को विलग कर सके।

**अज्ञानीमें भेदाभ्यासकी अबुद्धि**— जो कोई पुरुष कहीं यहका प्रयोग करे तो वह अन्य जगहोंमें करेगा। आपने शब्दशास्त्रमें पढ़ा ही है कि पुरुष तीन होते हैं—अन्यपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तम पुरुष या थर्ड परसन, सेकेण्ड परसन और फर्स्ट परसन। अब उत्तमपुरुषीय कर्ताके रूपसे उपस्थित हुआ, कोई यदि कदाचित् कहीं अन्यपुरुषको कर्ता बोल दे तो उसका अर्थ यह ही तो हुआ कि वह समझ रहा है कि ये भिन्न भिन्न दो बातें हैं। मैं मैं हूं, यह यह है। फिर माना कि यह मैं हूं! तो फिर इस मान्यताका क्या उठेगा? पहिले तो उसने भेद डाल दिया। यह तो ज्ञानीके व्यवहारके बारेमें ज्ञानकी भाषा है, अज्ञानीकी भाषा नहीं है। यह शरीर मैं हूं—ऐसा अनुभव अज्ञानी नहीं करता है, किन्तु मैं हूं। शरीरको ही देख करके मैं हूं—ऐसा अनुभव करता है।

**अज्ञानीके क्लेशमय अनुभवन**— भैया! जीव और देहके अभेदानुभवके कारण वह अज्ञानी शरीरके जीर्ण होनें पर क्लेश मानता है कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, ओह चल फिर नहीं सकता हूं। अरे, ज्ञानी यह जानता है कि मैं चल फिर नहीं सकता तो न सही। एक चलने फिरनेके व्यर्थके व्यायामसे बच गया। आंखोंसे नहीं दिखता है, नहीं दिखता है न सही न देखे,

न भोंके। अरे कुछ न देखा और न कुछ रागद्वेष किया। ठीक है, यह भी अच्छा है, पर अज्ञानी तो घबड़ा जाता है। अब मैं चल फिर ही नहीं सकता, क्या करूँ? अब मुझे कुछ सूझता ही नहीं, क्या करूँ? वह तो अज्ञानी इस देहको ही आत्मसर्वस्व समझता है। वृद्धावस्थामें बहुतसे लोग ऐसी भी हैरानी मान लेते हैं। क्या करें? भूख कम हो गई है, मन्दाग्नि हो गई है, क्लेश मानते हैं, क्योंकि इच्छा तो है बहुत खाने की और मन्दाग्नि हो गई, सो अधिक खा सकते नहीं। इसका भी बड़ा क्लेश है और केवल खानेका ही नहीं। पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेकी भी यही बात है। पाचों विषयोंको भोगनेमें अब यह समर्थ नहीं रहा, अब नहीं सुनाई देता है। चाहते यह हैं कि मैं रागका सगीतका भली बातका मौज पाऊँ। आंखों नहीं दिखता। चाहते यह हैं कि मैं सुन्दर रूपको खूब आंख भर निहारूँ। भोगना चाहते हैं पर भोग नहीं सकते हैं। इसका क्लेश इस अज्ञानी बूढ़े को बढ़ जाता है।

ज्ञानकी प्रगतिशीलता— ज्ञानी वृद्ध पुरुषको एक ज्ञानकी ही प्रबल दिशा मिलती है, वैराग्य बढता है। बाह्यवस्तुवोंसे उपेक्षा हो जाती है। वह अपने आपमें ज्ञानानुभव ज्ञानप्रकाश अधिकाधिक प्राप्त करता है। बहुत उम्र बीतने के बाद जो बुद्धि प्रस्फुटित होती है वह बुद्धि छोटी अवस्थामें होना कुछ कठिन है। इसीलिए वृद्ध पुरुषोंका, बड़ोंका, बुजुर्गोंका सम्मान रहता है। जो युक्ति, जो बात बालक और जवान नहीं समझ सकते हैं उसे वृद्ध पुरुष जानते हैं क्योंकि उनका सारे जीवनका अनुभव है। यों ही समझो ज्ञानी पुरुष जितना विशुद्ध ज्ञान रख सकता है वह बुढ़ापेमें और अधिक रख सकता है।

ढोंकी सूझ— लोकमें एक ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि एक बार लड़की वाले ने लड़के वालेसे यह कह दिया विवाहके समय कि हमारी बरातमें बूढ़ा कोई न आये। अब लड़के वाला सोचता है कि बूढोंको मना क्यों किया? कोई इसमें तथ्य है। सो एक काठकी संदुकिया लाया और उसमें दो चार छेद करके एक बूढ़ेको उसके अन्दर बैठाल दिया। जहां तमाम संदूक साथमें हैं वहां एक और संदूक साथमें हो गया। लड़की वाले ने क्या किया कि बरातको छकाने के लिए, मजाक करनेके लिए जितने बराती थे मानो २५ थे तो २५ गुड़की भेली डेढ़ डेढ़ सेरकी रख दी और उन सब बरातियोंसे कहा कि नाश्तेमें आप सबको एक-एक भेली खानी होगी। अब आप सोचो कि इतनी बड़ी बड़ी भेली कैसे खायी जा सकेगी? तो उनमें से दो आदमी पहुंचे, संदूक खोल अलगमें पूछा कि ऐसी नौबत

सामने आ गयी है क्या करना चाहिए ? तो उस बूढ़े ने सलाह दी कि सब सब लोग उछल कूद कर, नाच कूद कर एक दूसरे से छीन-छीनकर भिन्न-भिन्न भेलीसे तोड़ तोड़ कर खाना शुरू करो तो सारा गुड़ खा लिया जायेगा। उन सबने वैसा ही किया। सबने एक दूसरेसे छिन-छिन कर प्रत्येक भेलीमे से निकाल निकाल कर खाया, यों उछल कूदकर सारी भलियां खा डाली।

ज्ञानकी विशदता:— लोग कहते हैं कि बूढ़ा सठिया जाता है या बुद्धि कम हो जाती है यह बात झूठ है। यह बात उनके लिए ही सत्य है जो विषयोंमें आसक्त हैं, परिग्रहोंमे लीन हैं उनकी बुद्धि कम हो जाती है, पर जिनको ज्ञान स्वभाव से ही रुचि है उनकी बुद्धिमें तो यह ज्ञानप्रकाश और विशद हो जाता है। ज्ञानी पुरुष जीर्ण देहमे भी अपने को जीर्ण नहीं मानता है।

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ।।६५।।

पुनः दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी देहसे विविक्तताका समर्थन— जैसे कोई भी पुरुष वस्त्रके नष्ट हो जाने पर अपने आपको नष्ट हुआ नहीं मानता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने देहके नष्ट हो जाने पर भी अपने आपके आत्माको नष्ट हुआ नहीं मानता है। वस्त्र जल जाय फट जाय, किसी प्रकार नष्ट हो जाय तो उस कमीज कोट आदिके नष्ट हो जाने पर कोई यह तो नहीं मानता कि मैं नष्ट हो गया हू। यह लौकिक पुरुषोंका दृष्टान्त दिया है क्योंकि उन्हीं लोगोंको समझाना है। इसी तरह अपना देह नष्ट हो जाय तो वहां भी ज्ञानी आत्माको नष्ट हुआ नहीं मानता है।

नाशका भाव— नाशका मतलब यहां सर्वथा नाशसे नहीं है क्योंकि जो पदार्थ सत् है उसका सर्वथा नाश कभी नहीं होता, अवस्थाएँ बदलती हैं। शरीरका नाश क्या ? शरीरका आत्मासे अत्यन्त पृथक् हो जाना यही शरीरका नाश कहलाता है। शरीर तो पीछे जलता है, जब आत्मा शरीर से निकल जाता है अथवा कोई उपद्रवी शरीरको जिन्दा ही जला दे वह सब नाशमें शामिल है। शरीरसे आत्माके अलग होनेका नाम नाश है, फिर यह शरीर किसी भी अवस्थाको प्राप्त हो, चाहे गढ़े, चाहे जले, चाहे यों ही छिन्नभिन्न हो जाय वह सब नाश ही है। अर्थात् जब यह जीव मरण कर रहा है, एक भवको छोड़कर दूसरे भवमें जा रहा है तो वहा यह पुरुष अपने को नष्ट हुआ नहीं मानता है।

भिन्नकी प्रीति कैसे— भैया ! जब इस देहसे भी हमारी प्रीति नहीं

निभ पाती है, देहको छोड़कर चला ही जाना पड़ता है तब अन्य वस्तुवों की प्रीतिकी क्या आशा रखना ? इस जगत्‌में कुछ भी निदान बांधना, कुछ भी आशा लगाना केवल क्लेशके लिए ही है। बड़े-बड़े पुरुष भी पापोदय आ जाने पर पददलित हो जाते हैं। जो भी समागम है उस समागमके स्नेहमें आत्माको किसी भी प्रकारका लाभ मिलता हो तो बताइये। अपने आपमें देख लीजिए, आत्माको क्या लाभ मिलता है ? चिंताएं, शोक, आकुलता, भय, शंकाएँ, उपद्रव परवस्तुके स्नेह होने पर आ खड़े होते हैं। जब देह ही अपना बनकर नहीं रह सकता तो अन्यकी क्या आशा की जाय ? मोही मोहियोंमें ही ऐसा कहा करते हैं कि हमारी तुम्हारी अति गाढ़ी मित्रता है और और भी प्रेमालापमें जो कुछ भी हृदयकी बात कह सकते हैं कह लेते हैं, पर वास्तविकता यह है कि कोई मनुष्य किसी दूसरे से प्रीति कर ही नहीं सकता है। अपने आपमें कषाय जगी और उस ही विषयमें अपने आपको रंग लिया जाता है, उससे वेदना होती है। यह किसी दूसरेमें कुछ कर ही नहीं सकता है।

**शरीर और आत्माका परस्पर अत्यन्ताभाव—** शरीर एक भिन्न पदार्थ है, आत्मा भिन्न पदार्थ है। आत्मा तो एक ही पदार्थ है और यह शरीर अनन्त परमाणुवोंका पिण्ड है। आत्मामें जो परिणमन है वह किसी भी परमाणुमें नहीं है और इस देहके परमाणुवोंमें किसी भी एक परमाणुका जो परिणमन है वह अन्य पदार्थमें नहीं है। ऐसी सर्वपदार्थोंकी स्वतंत्र स्वतंत्र परिणति चल रही है। वे समस्त पदार्थ अपने-अपने समय पर अपनी-अपनी नवीन अवस्था उत्पन्न करते हैं और पुरानी अवस्थाका व्यय करते हैं। इसमें कौन सी आत्माके विनाशकी बात है, परन्तु दूसरे पदार्थमें यह मेरा है, यह मैं हूं, ऐसा मान लिया तब उस अन्य पदार्थके व्यय होने पर वियोग होने पर इसे क्लेश उत्पन्न होता है और यह सोच बैठता है कि मेरा सर्वस्व नाश हो गया। जैसे लोग कहा करते हैं कि आज इतने पैसे बरबाद हो गए, नष्ट हो गए। अरे कहां नष्ट हो गए ? जहां हैं वहां होंगे। चोरी हो गयी तो कहते हैं कि बरबादी हो गयी। अरे कहां बरबादी हो गयी ? वह धन यहां नहीं है तो कहीं अन्यत्र है, सुरक्षित है, उसका विनाश नहीं हुआ। हां वह इसके समीप नहीं है तो किसी दूसरेके समीप पहुंच गया।

**परमार्थतः विनाशका अभाव—** भैया ! इसके समीप यह सब नट-खट पहिले भी न था, पहिले भी इससे अलग था। परंतु जब घरमें रखे हुए ढेरको देख-देखकर यह कल्पना किया करता था कि यह मेरा धन है,

अब उस धनके चले जाने पर इस कल्पनाका समय नहीं रहा, क्योंकि सामने नहीं है, इसलिए बरबादी कहते हैं। चीज तो जहांकी तहां है। हमारे मनके अनुकूल बात नहीं होती है तो उसे बरबादी कहते है और जब मनके अनुकूल बात हो गयी तो उसे आबादी कहते हैं। कितनी सीधी सी बात है। वस्त्र नष्ट हो गया तो कौन मानता है कि मैं नष्ट हो गया हूं। वस्त्र जुदा पदार्थ हैं और यह मनुष्य जुदा पदार्थ है। इसी प्रकार से यह ज्ञानी जानता है इस राजको कि यह देह अलग हो रहा है तो क्या हो गया? देहमे देह है, मुझसे मै हूं, इससे मेरा विनाश कहां है। ज्ञानी पुरुष ऐसी स्थितिमें अपना विनाश नहीं समझता है। ऐसे ही एक दृष्टांत द्वारा इस विषयकी अतिम बात भी कह रहे हैं।

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मान न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

पुनः दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी विविक्तता उपसंहार— जैसे वस्त्र लाल रंगमें रग लेनेसे कोई यह नहीं मानता कि मै लाल हो गया हूं। किसी भी प्रकारका रंगीला कपड़ा पहिन लेने हर यह पुरुष क्या यह विश्वास करने लगता है कि मैं इस रंगका हूं? नहीं करता। इसी तरह इस शरीरके भी लाल होने पर या किसी भी तरहके रूप होने पर यह अपनेको अर्थात् जीव को लाल नहीं मानता है।

देहमें रूपकी उपपत्तिविषयक जिज्ञासा व समाधान— भैया, पुद्गल में रूप हुआ करता है, इस नातेसे भी इस शरीरमे रूप हुआ करता है, पर साथ ही रूपनामक नामकर्मका उदय होनेसे भी रूप हुआ करता है। जिस किसी भी प्रकारका रूपनामक नामकर्मका उदय हो और हो गया रूप, पर रूपका आधार जीवन ही है, रूपका आधार पुद्गल ही है, क्योंकि पुद्गल ही रूप होता है। यह एक करणानुपयोग विषयक जिज्ञासा हो सकती है कि जब पुद्गलका स्वभाव ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाला होता है तो फिर शरीरके रूप होनेके लिए रूप नामक नामकर्मकी क्या आवश्यकता है? शरीर नामक नामकर्मसे शरीर मिल गया तो शरीर पुद्गलके नातेसे रूप वाला तो हुआ ही करेगा। फिर रूपनामक नामकर्मने क्या किया? इसी प्रकार रस, गन्ध, स्पर्श नामक भी नामकर्म है। उस नामककर्मने भी क्या किया? चूंकि शरीर पुद्गल है और पुद्गलमें ये चार स्वभाव होते हैं, सो हुआ ही करेंगे। कौनसी विशेषता उन कर्मोंसे हुई? इस जिज्ञासाका समाधान यह है कि पुद्गलके कारण रूप, रस आदिक होते तो वे सब अटपट जैसे चाहे होते, किन्तु भव भवमे, रूप आदिक सदृश जातिमें प्रति-

नियत होता है, इसका कारण यह कर्मोदय है।

जैसे कई चींटिया हैं। चींटियोंके शरीरमें जो रूप होगा, वह प्रतिनियत होगा। जो सब चींटियोंमे उस तरहका रूप पाया जाएगा, यह नियम नामकर्मके उदयसे होता है। पुद्गलके नाते इस तरह का नियम नहीं आ सकता है। जितने घोडे हैं, उन घोड़ोंके शरीरमे उन जैसा रूप, उन जैसा रंग, उन जैसा गन्ध हुआ करता है। मनुष्योंमें मनुष्यों जैसा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श हुआ करता है। ऐसा जो प्रतिनियम है, वह उस नामकर्मके उदयसे बनता है।

आत्मविषयक विविध मान्यताओंकी विडम्बनाका कारण— कैसा ही हो जाए शरीर ? लाल हो गया शरीर तो ज्ञानी अपनेको लाल नहीं मान लेता। सांवला हो गया शरीर, किसी भी रंगका मिला शरीर तो ज्ञानी पुरुष अपनेको उस रंग वाला नहीं मानता है। अज्ञानी ही ऐसी कल्पना करता है कि मैं गोरा हू, काला हू, सांवला हू, गेहुंवा हू—ये नाना प्रकारकी कल्पनाएँ अज्ञानियोंमें होती है। जो देह और जीवको एकरूप मान रहे हैं, वे याने देहजीवको एक गिने—ऐसे बहिरात्मापुरुष अपनेको रंगीला माना करते हैं। जिसकी मूलमें ऐसी व्यामोहबुद्धि है कि अपने आपको अमूर्त चैतन्यस्वरूप न मानकर जिस पर्याय में पहुचा, उस देहरूप ही अपने को मानने लगता है। उसकी इस मूलभित्ति पर फिर और और भी मिथ्या कल्पनाएँ चलने लगती हैं, यह शरीर सुहावना लगने लगता है और रूप रंगमें भी भेद डालने लगता है, यह रूप सुरूप है, यह रूप कुरूप है—ऐसा भेद डालने लगता है। फिर उनमें रागद्वेषकी प्रवृत्ति होने लगती है। इन सब विडम्बनाओंका मूल कारण देहमें और जीवमें अभेदाभ्यास कर लेना है।

देहकी अपवित्रता व वीभत्सता— कितना अपवित्र है यह शरीर ? हम आपके भीतरसे लेकर बाहर तक मल ही मल भरा है। रोम, चमडी, मज्जा, मास, हड्डी सब अन्दरसे लेकर बाहर तक सब मलका पुतला है और यह शरीर घिनावना मल केवल एक पतली चादरसे मढ़ा हुआ है। कितना असार यह देह है, पर पर्याय व्यामोही इस देहके रूपादिक पर मुग्ध होकर इन सब तथ्योंको भूल जाता है। व्यामोहकी बात उस व्यामोही में ही है।

कौनसा अन्तर ऐसा आ जाता है ? मै लाल हू, सफेद हूं, सांवला हूं—यह अन्तर पड़ा हुआ है। अरे यह सारा देह असार हैं, घिनावना हैं, अपवित्र है। जिसके मनमे विषयकपायोंका चोर पड़ा हुआ है, वह

सुहावने और असुहावनेकी छटनी कर लेता है। इस घिनावने शरीरमें पतले चामकी चादर मढी हुई है। जरा इसके अन्दरके नक्शेको देखो तो क्या ये सूरतें उस रूपमें नजर न आयेंगी, जैसी कि मरघटोंमें खाली खोपड़ियां होती हैं ? वे कितनी भयंकर दिखती हैं। कैसे आंखके गड्ढे, चपटी नाक बनी हैं, कैसे दांत निकले हैं। ऐसी खोपड़ी तो सभीकी है। इस पर पतले चामकी चादर मढी है। इस ओर अज्ञानकी दृष्टि नहीं पहुंचती है।

अमूर्त आत्मामें व्यर्थकी विराधना— भैया ! इतना ही हो जाए कि अपने विषयसाधनोंके लिए कुछ सुहा गया, तब भी कुछ गनीमत हो, किन्तु यह तो इन सब जीवोंमें अपने रिश्ते और परिजन सम्बन्धी भाव बनाता है कि ये सब मेरे हैं। अरे शरीर तक तो मेरा है नहीं और श्रद्धा ऐसी बना ली है कि ये सब मेरे है। जैसे रगे हुए वस्त्रसे भिन्न यह पुरुष है—ऐसे ही रगे हुए देहसे भिन्न यह आत्मा है। देहके रंगकी तो बात क्या कहें ? यह तो भिन्न है ही, पर भिन्न विभिन्न कषायोंके भेदका निमित्त पाकर जो आत्मामें रागरंग चढ़ा हुआ है, रागद्वेष विभाव बने हुए हैं, उससे भी यह आत्मा न्यारा है। यह तो मात्र चिदानन्दस्वरूप ज्ञानप्रकाशमात्र अकाशवत् निर्लेप अमूर्त भावात्मक है,जो कभी भेदा भी नहीं जा सकता—ऐसा यह अमूर्ततत्त्व ज्ञानमात्र आत्मा है।

अन्तस्तत्त्वका प्रसाद— बडे महायोगीश्वर इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि रखा करते हैं। इसीसे वे निर्जन जंगल, सघन वनके स्थानमें भी अकेले रहकर सदा प्रसन्न रहा करते हैं। वास्तविक प्रसन्नता तो अपने आपके स्वरूपके मिलनमें है। यह मायामय बाहरी मिलन वास्तविक प्रसन्नता उत्पन्न नहीं कर पाता है। यह मेरा रक्षक परमपिता पारमैश्वर्यसम्पन्न आत्मतत्त्व इस अपने आपका भला करनेके लिए अनादिकालसे शाश्वत उद्यत है। लेकिन यह ही मैं उपयोग, मोह, ममतासे मलिन हो इस की ओर दृष्टि भी नहीं करता हूं। कभी यह उपयोग केवल दृष्टिभर तो कर ले, फिर तो प्रवाहकी तरह बड़ी घन धाराओंमें यह आनन्द परिणत होगा। इसके समस्त संकट टल जायेंगे।

सावधान !— वाह रे मोहकी लीला कि जिससे विवश होकर ये जीव जो शाश्वत सहजआनन्दस्वरूप है, आनन्द देने वाला है, उस ओर तो दृष्टि भी नहीं करते और जिनका समागम मिलना केवल आकुलता को उत्पन्न करने वाला है, उनकी ओर ये अपना उपयोग देते हैं। इस जीव योनिमें, इन जीवकुलोंमें एक मनुष्यभव ही ऐसा उत्कृष्ट भव है कि जहां पर एक मन मिला है, कल्याणका उपाय कर सकते हैं। वहां भी यह जीव

अपनेको थका ले, विषयकषायोंसे मलिन करले तो फिर बतलावो कि किस कालमें, किस भवमें सुधरनेका अवसर आयेगा और करना भी कुछ अटपट काम नहीं है, सीधा काम करना है। जो जैसा है उसको वैसा जानना भर है। इस यथार्थ ज्ञानकला पर हम आपका भविष्य निर्भर है। पर इतना ही न किया जाय तो फिर दूसरा मददगार कौन हो जायेगा ?

अन्तर्ज्ञानप्रकाश— शरीर भी मेरा नहीं है, तो ऐसे ही समझलो कि शरीरसे भी मैं जुदा हूं। जब घर सम्पदा रूप भी मैं नहीं हूं, तो फिर ऐसा समझलो कि मैं इन सबसे भी विविक्त हूं। जो आनन्द सर्वसे विविक्त होने में है वह आनन्द किसी परके ग्रहणमें नहीं है। वह तो मोहका अंधेरा है और अन्तरमें यह आकिञ्चन्य भावके ज्ञानका प्रकाश है। इस आनन्दको आत्मा ही उत्पन्न किया करता है, किसी परवस्तुके कारण आनन्द नहीं आता है। यहां बड़ा जाल है, गोरखधंधा है, ज्वारियोंका पड़ है। जैसे ज्वारियोंके स्थल पर बैठा हुआ पुरुष हारे तो नहीं उठ सकता, जीते तो नहीं उठ सकता, ऐसे ही इस मायामयी दुनियांमें पुण्यका फल पाये तो जीते यहांसे नहीं हट सकता है। इसी तरह पापका फल पाये, हारे तो यहांसे उठ नहीं सकता। इसी मोह ममतामें ही रहकर सड़कर इसे जीवन समाप्त करना पड़ता है। देखो देहसे भी न्यारा अपनेको तको। कैसी भी देहकी अवस्था हो, फिर भी मैं देहरूप नहीं हूं—ऐसा अनुभव करे तो अन्तर में ज्ञानप्रकाश फैलकर सहज शुद्ध आनन्दको उत्पन्न करेगा।

यस्य सस्पन्दमाभाति निस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

निस्पन्ददर्शन और शान्ति— ज्ञानी पुरुषोंने अपने आत्मतत्त्वको देहसे विविक्त निरखा है। इस विविक्त अवलोकनके अभ्याससे इस ज्ञानी पुरुषको बाह्य जीवलोकमें भी इन दृश्यमान् देहोंसे भिन्न चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व दृष्ट हुआ है तब उसे अन्तरमें यह सब आत्मस्वरूप निस्पंद अचल ज्ञानस्वरूप प्रतीत होता है। यों जब जिस जीवको ये अनेक चेष्टाएँ करते हुए शरीरादिकरूप यह दृश्यमान् जगत् निश्चेष्ट काष्ठ पत्थरकी तरह जड़वत् किन्तु क्रिया और सुख दुःख आदिके दुःखोंसे रहित मालूम होने लगता है तब इस पुरुषके ऐसी परमशांति उत्पन्न होती है जिसमें न कोई हलन चलन है, न कोई भोग भोगना है, न अध्रुवता है, ऐसी उत्कृष्ट शांति उसे प्राप्त हो जाती है।

सक्रिय व्यवहारजीवोंमें अक्रियाभोगका अवलोकन— आत्मप्रगतिके लिए यह एक प्रयोग करने की चीज है। इन देहोंसे भिन्न आत्मतत्त्वको,

ऐसा ज्ञानप्रकाशमय चित्स्वभावरूप निरखना चाहिए कि फिर यह मालूम पड़ने लगे कि ये दृश्यमान् शरीरादिक पुद्गलपिण्ड चल रहे हैं तो चलो किन्तु इनके अन्तरमें विराजमान् जो यह आत्मस्वरूप है वह तो अचल व निष्क्रिय है और कर्तृत्व भोक्तृत्वकी तरंगोंसे रहित है। जब इस प्रकार यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप दीखने लगा तब समझना चाहिए कि अब यह मोक्ष मार्गमें बहुत प्रगति कर रहा है। लोग तो जरासी प्रतिकूल बात सुनकर अथवा कुछ मनके विरुद्ध चेष्टा निरखकर आकुलित हो जाते हैं किन्तु ज्ञानी उन चेष्टावोंको देखकर क्या आकुलित होगा? वह तो यहां यह देख रहा है कि यह क्रियावान पुद्गल पिण्ड अलग है और जो जाननहार है ऐसा जो तत्त्व है वह निश्चल है, काठ पत्थरकी तरह हिल डुल न सकने वाला, न कुछ भोग कर सकने वाला ऐसा शुद्ध ज्ञानप्रकाश स्वरूप है। यह अभ्यास इस प्रकारकी दृष्टिका प्रयोग जिसके जितना बढता जाय समझो वह शांतिमें उतना ही बढ़ता चला जा रहा है। हम कुछ देखें और देखनेके साथ ही हमारी समझमें यह आये कि जो कुछ हिलडुल रहा है रूप, रस गंध, स्पर्शवान् स्कंध, वह हिल डुल रहा है किन्तु ज्ञाता द्रष्टा जानन देखनहार जिससे हमारा प्रयोजन है वह तो निश्चेष्ट कर्तृत्वभोक्तृत्वकी तरंगसे रहित केवल चित्स्वभावमात्र है। यह तत्त्व बड़ी ऊँची साधनाके बाद मिलता है।

शान्तिकी पात्रता— भैया! इतना श्रेष्ठ मनुष्यजीवन पाकर मोहममता अहंकारकी बातोंमें इतना लिपट जाना उचित नहीं है। किसी भी समय सर्व परतत्त्वोंसे शून्य केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपमें परिणमन बन सके, यह प्रयोग ही जीवनकी सफलता है, किन्तु पर्यायव्यामोह में यह कठिन हो रहा है, क्योंकि इस मोही जीवका उपयोग अपने मनके माफिक मनके विषयभूत पदार्थोंमें ही अटका हुआ है, वह शांति नहीं पा सकता है। शांतिका पात्र वही है जो इस चलित व चलायमान् क्रियावान् शरीरपिण्डको निरखकर भी यह देखे कि वह तो निष्क्रिय है। कितनी सूक्ष्मदृष्टि है यहां साधक पुरुषकी।

विवेकशौर्य— यद्यपि यह आत्मा हाथ पैर अंग-अंगमें विभक्त बना हुआ है। जैसे एक इस शरीरका ढांचा कैसा भिन्न-भिन्न अंगोपांगके रूपमें है। एक जीववृक्षका ढांचा कैसा फूल-फूल पत्ती-पत्ती, डाली डालीमें फूलोंके मध्य जो मकरंद रहता है पतले डोरेके माफिक, उन पतले डोरोंमें मकरंदों में सर्वत्र यह आत्मा कैसा विभक्त होकर फैला है। यह क्षेत्रदृष्टि की गई है, अतः आत्मपदार्थके बारेमें ऐसा लग रहा है, किन्तु जहां ही उस क्षेत्र-

विस्तारसे दृष्टि हटायी, केवल स्वभावमय दृष्टि जमायी तो वहां सर्व-विकल्पोंसे रहित नीरंग निस्तरंग स्वभावमात्र दृष्ट होता है। यह है साधना शांतिके मार्गकी। कुटुम्ब परिवार घर दौलत यही सब कुछ है ऐसी आत्मसमर्पण जैसी बात यह मोही कायर पुरुषकी देन है। शूरवीर आत्मा वही है जो परपदार्थोंसे अलिप्त रहता है और अपने आपमें बसे हुए सहज चित्स्वभावकी रुचि करता है।

परमार्थदर्शनका परिणाम—जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूप का चिंतवन करते-करते अपने आपके आत्मस्वभावमें ऐसा स्थिर हो जाता है कि उसे यह क्रियात्मक संसार, चलता फिरता यह जीव लोक, यह देह पिण्ड, ये सब पत्थर लकड़ी की तरह स्थिर मालूम होते हैं। ओह! चल रहा है, कौन चल रहा है, कहा चल रहा है, चलते हुए भी अचल दीख रहा है। ऐसी स्थिति वालेकी साधनाको कौन बना सकता है? जैसे जो कुछ दिखते हैं ना भींत, फर्श, पत्थर, कपड़े, दरी, जो कुछ यहां दीख रहे हैं, इनही दिखते हुए पदार्थोंमें और अन्तरमें प्रवेश करके परमार्थ सार-तत्त्व तो देखो क्या है? ये दृश्यमान् रूप आदिक पिण्ड परमार्थस्वरूप नहीं हैं। ये सब अनन्त परमाणुवोंके पिण्ड हैं। ये सब कुछ एक पदार्थ ही नहीं हैं। इन सब स्कंधोंके रहते हुए भी दृष्टि केवल परिपूर्ण अव्यक्त सहज सिद्ध पुद्गलद्रव्यपर जाय, परमाणुपर जाय और वहा वह परमार्थभूत पुद्गल ही दृष्ट रहे तो ये भींत, फर्श, पत्थर इस ज्ञाताके उपयोगमें नहीं रहे, सब गिर गये, सब विलीन हो गये।

बेअटकमें बेअटक प्रवेश—भैया! परमार्थज्ञाताके उपयोगमें तो परमार्थभूत पुद्गल ही नजर आ रहा है। यह दृष्टिका कमाल है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला ऐक्सरा यंत्र मनुष्यके कपडे, चमड़ी, मास, खून आदिके फोटो न लेकर, उनका ग्रहण न करके केवल हड्डीका ग्रहण करता है, अस्थियोंका ही फोटो ले लेता है। कहीं अटकता नहीं है वह एक्सरा यंत्र अपनी विधिवत् क्रिया करनेमें। ऐसे ही जानो कि जिनकी परमार्थकी ओर दृष्टि हो गयी है वे इन दृश्यमान् देहोंमें अटकते नहीं हैं। ये देह पराये देह अथवा अपना जीवन अधिष्ठित देह ये सुहावने लगें या असुहावने लगें, यह तो दूरकी बात है। यह ज्ञानी तो इस चलित देहमें इस अचल आत्मतत्त्वको निरख रहा है। ऐसे साधक परमयोगीश्वर संत महात्माके यह अनुभवमें आ रहा है कि यह आत्मतत्त्व निष्पंद है। हाथ बड़े जोरसे हिलाया जाय तो हाथके गोल चक्कर काटने पर आत्माके उतने प्रदेश भी तो चक्कर काट रहे हैं, गोल फिर रहे हैं, लेकिन ज्ञानी

पुरुषको तो यहां वहां चक्कर नहीं दिखते, वह उस ही चीजको तत्त्वकी प्रमुखतासे जानता है, इसलिए उसे न भिन्न भिन्न रूपमें फैलता नजर आता है और न कोई उसमें हानि अथवा कोई वृद्धि नजर आती है। ऐसे इस परमयोगास्पद पुरुषको यह सस्पन्द जगत्, चलायमान् यह ऐसा दृश्यमान् जीवलोक अचलकी तरह प्रतिभात होता है।

अन्तस्तत्त्वकी स्वीकृतिका वर्णन-- भैया ! जिसकी इस सहजस्वभाव पर दृष्टि नहीं पहुंची, उसको इस श्लोकमें कुछ नहीं मिल सकता है। क्या सस्पन्द और चलते हुएको भी निष्पन्द बताया जा रहा है ? दौड़ तो लगा रहे हैं यह सब कोई और इस ज्ञानीको ये सब कुछ काठ पत्थरकी तरह अचल नजर आ रहे हैं। यह कोई बला है क्या। नहीं, यह कोईसी बला नहीं है, किन्तु आत्मतत्त्वके अन्तर्मर्मकी, अन्तःस्वरूपकी दृढ़ स्वीकृति का परिणाम है। इस ज्ञानी पुरुषको यह सब चलता फिरता लोक निश्चेष्ट नजर आ रहा है।

आशयके अनुसार अवलोकनका एक दृष्टान्त— जैसे कोई कठिन दुखसे जो दुःखी है, जिसका इष्टवियोग हो गया है अथवा किसी जगह अत्यन्त घोर अपमान हो गया है, किसी भी कारण जो घोर दुखी पुरुष है, उसको दुनियाके लोगोंके चेहरों पर दुःख ही नजर आता है। उस समय कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनमें विवाह या अन्य कोई खुशीकी बातें हो रही हैं और वे हंस रहे हों, खुश हो रहे हों तो भी इस दुखियाको ऐसा लगता है कि ये कुछ मजाकसा हंसकर कर रहे हैं, सुखी नहीं हैं, ये कुछ जबरदस्ती पर सुखी नहीं हो पाते। दुखिया पुरुषको यह सारा जीवलोक दुखी नजर आता है। सुखी भी हो कोई, मौज भी मानता हो कोई तो उसे वह दिल्लगी करने जैसा मालूम होता है। वह अनुभव नहीं कर सकता कि ये पुरुष सुख में प्रवृत्ति कर रहे हैं। विषयसुखीजीव दुखीको देखकर यह नहीं सोचते कि ये दुखमें प्रवृत्ति कर रहे हैं।

अन्तःअवलोकनका परिणाम-- ऐसे ही जिन्होंने सहजज्ञानानन्द स्वरूपका अवलोकन किया है और उसके दृढ़ अभ्यासके बलसे सहज उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव किया है, जो इस परमार्थभूत सत्य आनन्दसे तृप्त रहा करते हैं, उनको बाहरमें कोई जीव दुख करता हुआ व विविध चेष्टा करता हुआ नजर आये तो उन्हें ऐसा लगता है कि ये कोई बनावट कर रहे हैं, नाटक खेल रहे हैं, कोई दुखी नहीं है। जो बात अपने उपयोगमें उतरती है, उसके खिलाफ बाहर कुछ नजर नहीं आता है। इस ज्ञानीसतने अपने आपमें ऐसे अचलस्वरूपको देखकर सर्वझंझटोंसे विरक्ति लेकर एक इस

आत्मतत्त्वमें अपना सर्वस्व लगाया है ऐसे पुरुषोंको ये सब कुछ अचलित दीखते हैं। अब यह चल रहा है सो या तो यह कुछ शौकसा कर रहा है या कुछ कौतुकसा कर रहा है। भेददृष्टिकी प्रमुखतासे आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे यह सब कुछ न कुछ सा नजर आता है। इस ज्ञानी पुरुषपर इन बाह्य पदार्थों की क्रियावोंका कुछ भी असर नहीं होता है। अब अनाकुलता और प्रतिकूलताके विकल्प इस ज्ञानीके समाप्त हो जाते हैं।

निर्मोहतामें ही विवेककलाका प्रसार— यह सब सस्पन्द जगत् जिसे काठ पत्थरकी तरह निश्चेष्ट नजर आ रहा है, जिसे ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिबोध हुआ, ज्ञान हुआ और उस ही में वैराग्यभावसे गमन किया वह वीतराग भावको प्राप्त होता हुआ सहज आनन्दका अनुभव करता है। इस मर्मको इस दृष्टिको बहिरात्मा जीव कैसे प्राप्त कर सकता है? यह मूढ़, पर्यायमुग्ध जीव तो आकुलताके लिए ही जिन्दा है। इसने आकुलता का कभी कुछ सोचा ही नहीं है। चाहता तो है शांति, पर काम बन जाता है उससे अशांतिके जैसा। जिस पुरुषको कुछ बोलना ही नहीं आता हो, बोलता तो बहुत हो मगर बेजड़ बोलता हो, अपना लक्ष्य भी अपनी भाषा में बना सकने का साहस और योग्यता जिसमें न हो तो वह बोलना तो चाहता है भले के लिए, मगर बोल ऐसा उठ आता है कि जिससे काम ही बिगड़ता है। दिलमें चाहता हुआ भी आगे यत्न नहीं कर सकता है।

उपादानके अनुसार प्रवर्तन— एक गुरु था। वह जरासा तोतला था। तोतला बोलने वाले से स का उच्चारण ठीक नहीं हो सकता। तोतले कई तरहके होते हैं। कोई कम तोतले कोई अधिक। मगर कमसे कम भी जो तोतला है वह स नहीं बोल पाता है। स को ट बोलता है। तो ऐसा ही कम तोतला वह गुरु होगा। शिष्योंको पढ़ाने बैठा तो प्रारम्भके पाठमें एक शब्द आया सिद्धिरस्तु। जिसका अर्थ है कि सिद्धि हो, पर वह सिद्धिरस्तु बोल नहीं सकता था क्योंकि तोतला था। वह मनमें जानता था कि इसका सही उच्चारण सिद्धिरस्तु है, वह मनमें बोल लेता था, मगर मुखसे सही-सही न बोल पाता था। जैसे कि कोई ऐसे गाने वाले होते हैं कि मन ही मनमें गायें तो बढ़िया राग आ जाता है और जब उनके श्रीमुखसे वचन निकले तो बेहूदा स्वर निकल आता है। यों ही तोतले को अन्तरमें बहुत स्पष्ट बोध रहता है कि इसका यह उच्चारण है। तो वह गुरु शिष्यों को यह समझाना चाहता था कि हम चाहे टिद्धिरस्तु कहें तुम सिद्धिरस्तु समझना। सो वह शिष्योंको कहता है कि देखो हम चाहे जो कुछ कहें, पर तुम उसे टिद्धिरस्तु समझना। वह कहना तो चाहता है सिद्धिरस्तु मगर

मुखसे निकलता था टिद्धिरस्तु। जब तक दृष्टि विशुद्ध नहीं होती है तब तक अनाकुलता की बड़ी इच्छा भी है, यथार्थ धर्मपालनकी बड़ी मंशा भी है, फिर भी वह ऐसी ही क्रिया कर बैठता है कि जिन क्रियावोंसे शांति पाना तो अलग रहा अशांति ही उसे प्राप्त होती है।

स्वभावकी दृष्टि व लब्धिकी स्थिति— भैया! मोह ममता एक व्यर्थका रोग है, एक विम्बना है। इसका जिसने परिहार नहीं किया और शुद्धभावात्मक केवल ज्ञायकस्वरूप, आकाशकी तरह अमूर्त केवल चिद्विलासात्मक आत्मतत्त्व जिसको दृष्ट नहीं हुआ, कितना भी वह यत्न करले शांतिको प्राप्त नहीं कर सकता है। इस स्वभावके परिचयके अभ्यासमें यहां तक वृत्ति हो जाती है कि उसे यह चलता फिरता हुआ भी जीवलोक चलता नजर नहीं आता है किन्तु निष्पद, अप्रज्ञ, कर्तृत्वभोक्तृत्वसे रहित क्रियावोंसे भी शून्य केवल ज्ञानप्रकाश ही दृष्ट होता है, ऐसा ज्ञानी ही परमार्थ स्वभावको प्राप्त करता है, अन्य वहिरात्मा जन उस आनन्दको प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मान बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

ज्ञानका संवरण— कार्माण शरीररूप तथा नोकर्म शरीररूप कांचुलीसे ढक गया हैं ज्ञानरूपी देह जिसका, ऐसा यह आत्मा अपने आत्माके यथार्थस्वरूपको नहीं जानता है और इसही अज्ञानके कारण चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है। जैसे जिस सांपपर कांचुली चढ़ी हुई है उस सांपका रूप रंग दूसरेको कुछ ध्यानमें नहीं आता कि किस रंग का है अथवा उस सांपको ही कुछ नहीं दिखता है बाहर। सांपपर कांचुली सांपकी ही जितनी लम्बी होती है। सांपके शरीरपर कांचुली उसकी आंख पर भी है, सो अंतिम दिनोंमें जब कांचुली छोड़ने लायक हो जाता है तब उस को दिखना भी बंद हो जाता है, तो जैसे कांचुलीसे जिसकी आंखें और सारा शरीर ढका है ऐसा सांप कुछ देखता नहीं है इस ही तरह इस शरीररूपी काचुलीसे इस ज्ञानमयी आत्माका आवरण हो गया है तो यह भी कुछ जानता नहीं है।

ज्ञानमें शरीरावलम्बनका विघ्न— जैसे कांचुली सांपके शरीरपर आ जाने पर भी धुंधलासा कुछ दीखा करता है ऐसे ही इस शरीरसे आवृत होने पर भी यह आत्मा कुछ थोड़ासा जानता भी रहता है, किन्तु यह केवलज्ञानका अनन्तवा भाग जानना क्या जानना है। यह आत्मा तो अनन्त ज्ञानमय है, जगत्के समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जाने ऐसी

इसमें सामर्थ्य है, ऐसा ज्ञानमय यह आत्मा शरीरके कारण अपने विश्वास को खोये हुए है। लोग तो खुश होते हैं शरीरको देखकर और क्या करें, बेचारे फंसे ही ऐसे हैं कि शरीरसे कुछ राग करना ही पड़ता है, किन्तु मोही पुरुष ही इस शरीरको निरखकर बड़े प्रसन्न हुआ करते हैं। मैं स्वच्छ हूं, सुरूप हूं पर यह नहीं मालूम है उन्हें कि इस शरीरके कारण कितनी बरबादी हो रही है ? कल्पना करो, शरीर न होता, आप ही अकेले होते, जैसे कि आप इस शरीरमें भी अपने आपमें अपने आपके स्वरूपमें अकेले से हैं, ऐसे ही अकेले होते तो कितनी अच्छी स्थिति होती ?

*क्लेशोंका कारण शरीरसम्बन्ध—* भैया ! इस शरीरके लगनेसे ही बड़ी विडम्बना हो गयी। पहिला क्लेश तो यह है कि यह शरीरको 'यह मैं हूं ऐसा मानता है।' जब शरीरको अपना लिया तो शरीरके विषयोंके साधन बनाता है क्योंकि उनके विषयोंसे शरीरका सम्बन्ध है, फिर विषय साधन बनाने के लिए बहुत नटखट करने पड़ते हैं। कमावो, संचय करो, बनावो, आरम्भ करो, परिग्रह करो, गृहस्थी बसावो, विवाह करो, संतान हो रहे हैं, रिश्तेदार हो गए, इन सब बातोंमें उलझना पड़ता है, ये भी सब विडम्बनाएँ हैं। इस शरीरमें कितने दुःख हैं, भूखप्यास लगे, ठंड गरमी लगे और सबसे मूढ़ता भरी बात यह है कि यह जरा-जरा सी बातोंमें सम्मान अपमान माना करता है। यह भी तो इस शरीरके सम्बन्धसे है ना। किसी ने प्रतिकूल कह दिया तो बुरा लग गया। यह बुरा लगना, दिल में उसे पहुंचना इस शरीरके ही कारण तो है। आत्मा तो अमूर्त है, उसमें तो किसी प्रकार की बात लगती नहीं है। जैसे आकाशमें चाहे कुछ भी बोलते जावो, कोई बात लगती नहीं है, ऐसे ही कुछ भी बात बोलते जावो इस आत्मामें नहीं लगती है। इस जीवने इस शरीरको ही मान लिया कि यह मैं हूं और यह कल्पना कर ली कि ये चार लोग इस मुझको जान जायें ऐसी कल्पना उठ जानेसे ही यह अपना सम्मान और अपमान समझता है। कोई तीसरा न जाने एकने गाली दे दिया, सुनली उसको तो यह बुरा नहीं मानता, पर तीसरा कोई जान जाय कि इसने इनको गाली दी तो इसे बरदाश्त नहीं होता। यह सब क्या है ? यह शरीरमें आत्मबुद्धि करनेका ही तो परिणाम है। पहिले तो माना कि 'यह मैं हूं' बस इस मान्यता पर सारे क्लेश हैं।

*क्लेशविनाशका उपाय—* भैया ! कितने क्लेश होते हैं ? क्या क्लेश हैं ? उन सब क्लेशोंको जोड़ लीजिए, सामने रख लीजिए और एक अपने आपमें आकिञ्चन्य भावना बनायी जाय तो उससे ही वे सारे

क्लेश दूर हो जायेंगे। सुखी होनेके लिए अन्य उपाय नहीं करना है। सीधा सरल सच्चा, जैसाका तैसा उपाय करना है। जान जावो अपने आपको कि यह मैं इस देहसे भी अत्यन्त भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। इसकी ऐसी ही रचना है कि मैं हूं ऐसा सबसे विविक्त केवल चित्स्वरूपमात्र अपनी प्रतीति ईमानदारीके साथ कर लीजिए, फिर यह श्रद्धा रंच नहीं रहनी चाहिए कि मेरा घर है, मेरा मकान है, मेरा बच्चा है, मेरी स्त्री है, मेरा शरीर है, रंच भी इस ओर प्रतीति न हो। यदि कभी झलक आ जाए सबसे विविक्त शुद्धज्ञायकस्वरूपकी तो समझो कि वे सब क्लेश जो कल्पना कर करके एकत्रित किए हैं, वे सब एक साथ ध्वस्त हो जाते हैं। विपत्तिके बनाने वाले व उनको अलग करने वाले हम हैं।

समयका लाभ— भैया, गुजरा हुआ समय तो देखो कैसे गुजरा? अनन्तकाल गुजर गया कुयोनियोंमें भ्रमण करते करते। जब पेड़-पौधे, कीड़े मकौड़े थे, तब कहां नामवरीका रोग लगा था? धनहानि होनेपर कुछ शोक होता है। किस बातका शोक है, यह बताओ? क्या इस बातका शोक है कि अब रोटी ही न मिल पायेगी? अरे रंज इस बातका है कि लोकमें हमारी पोजीशन कहीं कम न हो जाए। लोकमें हमारी महत्ता कहीं कम न हो जाए, इस बातका रंज होता है। अपना जीवन रहनेकी असुविधाका रंज नहीं है। अब आप जानो कि इतना भव व्यतीत हुआ, अनंत कालसे कैसे कैसे भव पाये, आज सुयोगसे श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया है तो इस मनुष्यभव पाने का सबसे अच्छा लाभ, मोह ममता में गुजार देनेसे नहीं है। इसका लाभ शुद्ध ज्ञानमात्र अपना जैसा सहजस्वरूप है, उस रूप ही अपने आपको देख लो, अनुभव लो, यह है। नरभवकी सफलता भी इसीमें है।

बरबादियोंका कारण— जिस शरीरसे प्रेम है, इस शरीरका संबन्ध ही हमारी सारी बरबादियोंका कारण है। यह शरीर अनुरागके लायक नहीं है। शरीरसे मोह न होना चाहिए। शरीरकी सेवा तो करनी होगी, पर मोहकी बात जुदी है। प्राणधारणके लिए शरीरकी सेवा कर लेना, यह अलग बात है। जो शरीरमें मोह रखते हैं, उनका विकास रुक जाता है। अरे मेरा तो ज्ञानमात्र ही शरीर है। पदार्थका जो स्वरूप है, वही पदार्थ की बौडी कहलाता है। बौडीका शुद्ध हिंदी शब्द हो सकता है तो कलेवर हो सकता है शरीर और देह आदिक नहीं हैं। बौडीका प्रयोग शायद सभी पदार्थोंमें होता है, केवल एक जाननहारमें ही नहीं होता है। इस आत्माके ज्ञान शरीर कहो अथवा ज्ञानकी बौडी कहो, ज्ञान ही स्वरूप है।

यह ज्ञानशरीरी आत्मा इस शरीररूप कांचुलीसे ढक गया है। यह अपने आत्माको नहीं जान पा रहा, जिससे यह चिरकालसे संसारमें भटक रहा है और भेद न कर पाया तो भटकेगा।

एकक्षेत्रावगाह आवरण— कांचुलीका तो एक मोटा दृष्टान्त है। उस दृष्टान्तमें तो कांचुली अलग चीज है, सांप अलग है। कांचुली भिन्नक्षेत्रमें है, सांप भिन्नक्षेत्रमें है। यद्यपि सांपके शरीरके चारों ओर कांचुली है। जैसे कि पैण्टमें पैर पड़ा है—ऐसे ही कांचुलीमें सांप पड़ा है। पैण्ट बाहर है पैरसे, यों ही सांप कांचुलीसे दूर है। कांचुली सांपके शरीरके चारों ओर है, पर यहां तो कांचुली शरीरकी और कर्मकी आत्माके क्षेत्रमें पड़ी है। शरीर, हड्डी, खून, चाम—ये सभी तो शरीर हैं और जहां शरीर पोला है, जैसे नाकके बीचमें पोल है और कानके बीचमें पोल है, जहां जहा पोल है, उस जगह आत्माके प्रदेश भी नहीं हैं। जहां शरीरका मैटर है, वहां आत्मप्रदेश हैं—ऐसा शरीरके एक क्षेत्रमें यह जीव अवगाहित है। वह आवरण शरीररूप या कर्मरूप है। फिरभी इन दोनों आवरणोंसे यह ज्ञानशरीरी आत्मा भिन्न पदार्थ है।

जो अपनेको अकेला अनुभवेगा, वह तो सुखी रह सकता है और जो अपनेको बाहरमें कुछ मानेगा यह मेरा है, मैं इस रूप हू, ऐसा भाव जो बनावेगा, वह कभी शांति नहीं पा सकता है।

समागत पदार्थोंकी अध्रुवता माननेका प्रथम लाभ—

भैया! ये सभी समागम जो व्यवहारमें हैं, उन्हें एक बार तो दृढ़ता से मान लेना चाहिए कि जो भी मिले हैं, जिनका भी समागम हुआ है, चेतन अथवा अचेतनपदार्थ ये सब नियमसे बिछुड़ेंगे। ऐसी श्रद्धा अभीसे बना लो। इससे डबल लाभ है। प्रथम तो यह लाभ है कि उस पदार्थमें मोह न रहनेसे आकुलता न रहेगी, उसकी एक व्यवस्था ही रहेगी, उसके मालिक बनकर न रहोगे—ऐसी श्रद्धा यदि बन गयी कि जो कुछ मिला है, वह सब नियमसे बिछुड़ेगा तो आप उसमें स्वामित्वबुद्धि न कर सकेंगे। फिर जैसे लाखों करोड़ोंकी फर्मका मुनीम सब व्यवस्था बनाकर भी चैनसे रहता है, आकुलित नहीं रहता है—ऐसेही इन ज्ञानी समस्त अचेतन सगोंकी व्यवस्था बनाकर भी अन्तरंगमें आकुलित नहीं रह सकता। पहिला लाभ तो यह है।

हर्ष और विषाद दोनोंमें आकुलता— आकुलता दो तरहकी है— एक हर्षभरी और एक विषादभरी। विषादमें आकुलता होती है, यह तो सब लोग जानते हैं, पर हर्षमें भी आकुलता बसी हुई है, इस बातको व्या-

मोही पुरुष नहीं जान सकता है, ज्ञानी ही समझता है। पहिला लाभ तो यह हुआ कि आकुलता न होगी।

समागत पदार्थोंकी अध्रुवता माननेका द्वितीय लाभ— यदि यह श्रद्धा रही आयी कि जो कुछ समागममें प्राप्त हुआ है, सब कुछ किसी दिन अवश्य बिछुड़ेगा। चाहे आपका छोटा बालक हो, जिसके सम्बन्धमें आप यों सोचते हो कि वाह इससे तो हम पहिले मरेंगे तो ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता कि पहिले कौन मरेगा? इस मृत्युका नाम यमराज भी है। यमराज कोई अलगसे देवता नहीं है। अलंकारमें यमराज है। आयुके क्षयका नाम यम है। इस यममें बड़ी समता है। कैसी समता कि इसके आगे न बालक, न जवान, न बूढ़ा, किसीका इसे पक्ष नहीं है, सबको एक दृष्टिसे यह यमराज देखता है। जिस किसी पर बिगड़ा यह यम, उसीको खत्म कर देता है। इसकी निगाहमें बच्चे, बूढ़ेका भेद नहीं है कि यह अभी बच्चा है, इसे न खत्म करें, बूढ़को पहिले खत्म करें, ऐसा वहां कुछ भी पक्ष नहीं है। यह अलंकारमें कह रहे हैं। प्रथम तो यह ही निर्णय नहीं है। दूसरे मानलो कि आप उस बच्चेसे पहिले ही मर गये तो वियोग तो हो ही गया। वियोग तो दोनों ही हालतमें है—खुद पहिले मर गए तो, छोटा बच्चा पहिले मर गया तो। वियोग मानने पर तो दुर्गति ही होती है। इससे अपनी कुशलता चाहते हो, अपनी शांति चाहते हो तो इस श्रद्धाको मत भूलो। यह श्रद्धा दृढ़ बनाओ कि जो कुछ समागममें आया है, इसका नियमसे वियोग होगा।

स्वकी अन्य द्रव्योंसे सदा भिन्नता— भैया! परका वियोग क्या होगा? अलग तो है ही और अलग हो गए, जरा तो अधिक दूर पहुंच गए। जितने काल आपके घरमें है वैभव, उतने काल भी वह वैभव आपसे अलग है, आपकी आत्मासे घुलामिला नहीं है। कभी और अलग हो गया, जरा और दूर हो गया, हैं सभी परतत्त्व अपनेसे दूर। एक कूंजड़ा और कूंजड़ी थे बड़ी उम्रके। दोनोंमें लड़ाई बहुत होती थी। दोनों ही एक दूसरे का मरना विचारते थे। कुंजड़ेका व्यवसाय था कि साग-सब्जी तथा पीपल, नीम आदिकी पत्तियां ऊँट पर लाद लाता था और बेच देता था। वह ऊंट पर चढकर आता और ऊंट पर ही चढकर जाता। अचानक ही किसी दिन कूंजड़ा गुजर गया। लोग उस कूंजड़ीको सहानुभूति दिखाने के लिए आए और बोले कि क्या किया जाए, अब तो वह स्वर्ग सिधार गया। स्वर्ग तो ऊपर ही होता है—यह लोग समझाने आए। अब कूंजड़ी कहती है कि स्वर्ग तो वे चढ़े ही रहा करते थे, थोड़ा और ऊपर चढ़ गए

तो ऐसी ही सारे समागमोंकी बात है। ये चीजें आपसे अलग तो वैसे ही हैं, धन, वैभव, कुटुम्ब कहां आपसे चिपके हैं ? कल्पना ही कर रहे हो कि ये मेरे हैं।

संसारभ्रमण व संकट मिटनेका उपाय अपनी विविक्तताका दर्शन—भैया ! धन, वैभव आदि तो बेईमानी नहीं कर रहे हैं, आप ही तो मान रहे हैं कि ये मेरे हैं। वे बाह्यपदार्थ हैं, जैसे हैं वैसे ही हैं। अब भी वे दूर हैं। कोई समय ऐसा आएगा कि वे और दूर हो जायेंगे, पर जो अभीसे यह श्रद्धान् बनाए हैं कि जो कुछ समागम प्राप्त हैं, उन सबका वियोग भी अवश्य होगा—ऐसे श्रद्धालुके वर्तमानमें भी आकुलता नहीं रहती है और अन्तिम समयमें भी क्लेश नहीं रहता है, किन्तु जब बिछुड़नेका समय आता है तब यह जानता है कि मैं तो पहिलेसे ही समझ रहा था कि वियोग जरूर होगा। अब हो गया होने दो। जैसे कोई पुरुष ६ महीनेसे ही कठिन बीमार पड़ा हो, बचनेकी उम्मीद न हो तो उसके गुजरने पर अधिक क्लेश क्यों नहीं होता ? यों नहीं होता कि घरके लोग जान रहे हैं कि यह बात तो चार महीने पहिलेसे जान रहे थे कि यह बचने वाला नहीं है. मरेगा और कोई पुरुष अचानक ही चटपट हो जाय तो उसका बड़ा शोक होता है क्योंकि एकदम बात यह ज्ञानमें आयी कि ओह ! अनहोनी हो गयी। तो जिसके सम्बन्धमें आप पहिले से समझ रहे हो कि इसका वियोग जरूर होगा तो उसका वियोग होने पर क्लेश नहीं हो सकता है तो जिनसे परिचय हो अथवा न हो, उन सबको अभी से जान लो कि ये भिन्न हैं, इनका वियोग अवश्य होगा। यदि परमार्थ दृष्टि रखकर सबको अपनेसे भिन्न मान लिया जाय तो उससे संकट भी टलेंगे और संसारपरिभ्रमण भी मिटेगा।

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

शरीरकी अस्थिरता— यह शरीर स्थिर पदार्थ नहीं है। स्थूलरूप से सभी जानते हैं। यह जीर्ण होता, शीर्ण होता, नष्ट होता, नाना रंग आकार बदलता, छोटा बड़ा होता, यह स्थिररूप नहीं रहता है। यह मोटा दृष्टान्त है और बारीक दृष्टिसे देखो तो एक ही दिनमें, एक ही घंटेमें, एक ही मिनटमें, एक ही सेकेण्डमें समझो अनेक परमाणु नवीन आते हैं और अनेक परमाणु पूर्वबद्ध खिर जाते हैं। इस शरीरमें अनेक तो नये परमाणु आते हैं और अनेक पहिलेके बँधे बँधाए कर्म शरीरसे अलग हो जाते हैं।

पुद्गलके लक्षण— इन पुद्गलोंका पूरण और गलन हो रहा है,

यह बात शरीरमें तो है ही पर उसके अतिरिक्त सभी अचेतन पदार्थोंमें भी यह बात है। इन स्कंधोंमे अनेक नवीन परमाणु आते है और अनेक खिर जाते हैं इसीलिए इनका नाम पुद्गल है। जितने भी रूपवान् पदार्थ हैं ये सब पुद्गल हैं। कोई लोग तत्त्वकी संख्या बनानेमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनको अलग-अलग तत्त्व मानते हैं। पर ये अलग-अलग कैसे हैं? जब जल कभी वायु बन सकता है, वायु कभी जल बन जाता, पृथ्वी आग बन जाती, आग पृथ्वी बन जाती याने ये सभी कालान्तरमें इनमें अन्यरूप हो सकते हैं तब ये अलग-अलग कैसे रहें मूलमें? अलग-अलग पदार्थ वे कहलाते हैं जो त्रिकालमे भी उस रूप न हो सकें। ये सबके सब पदार्थ भी पुद्गल कहलाते हैं। जो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला हो उसे पुद्गल कहते हैं। जो पूरे और गले, संयोग होकर बिखर जाय और बिखरकर छोटा रह जाय, ऐसी स्थिति जिन पदार्थोंमे रहती है उन्हें पुद्गल कहते हैं।

पदार्थके भेद करनेकी पद्धति— पदार्थ ६ प्रकारके होते हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। पदार्थोंके भेद करनेकी प्रणाली कितनी युक्तियुक्त है, इसकी पहिचान भेद करनेकी पद्धति यह है कि जिस का भेद किया जाय वह भाग भी न छूटे और जो भेद किए जा रहे हैं वे परस्परमें एक दूसरे से मिलें नहीं, यह है भेद करनेकी पद्धति। जैसे संसारी जीव कितनी तरहके होते हैं? कोई कहे कि दो तरहके होते हैं एकेन्द्रिय जीव और संज्ञी जीव। यह भेद करनेकी ठीक पद्धति नहीं है। इसमें यह दोष है। ससारी जीवके भेद किए जा रहे हैं। तो जो इनके दो भेद किये हैं—एकेन्द्रिय और संज्ञी। इन दोनोंमें सब ससारी आ जाने चाहिए तब तो भेदकी पद्धति है, पर नहीं आये। अच्छा तो सही भेद बताओ। संसारी जीवके दो भेद हैं एक त्रस और एक स्थावर। इसमें कोई ससारी नहीं छूटा। पहिले किए गये भेदमें दो इन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय ये सब छूट गये थे। इसमें कोई भी नहीं छूटा। एक बात तो यह है और दूसरी बात जो भेद किए जा रहे हैं वे परस्परमे उस पर्यायमें लक्षणसे मिल न जाये कि कोई स्थावर त्रस भी हो जाय और त्रस स्थावर भी हो जाए, ऐसा मेल न हो जाय तब वह सही भेद कहलाता है। तो द्रव्यके जो ये ६ भेद किए हैं इन छहोंसे अलग कोई द्रव्य नहीं है, और ये छहों कभी तीन कालमें भी कभी एक दूसरे रूप हो नहीं सकते हैं।

द्रव्योंकी शाश्वत परस्पर विभिन्नता— जीवका लक्षण चैतन्य है, इस रूपमें पांचों द्रव्य हो ही नहीं सकते। पुद्गलका लक्षण है पूरना और गलना, जुड़कर पिण्ड बन जाना और बिछुड़कर अलग हो जाना, यह बात

किसी भी दूसरे द्रव्यमें नहीं है। पुद्गल ही एक ऐसा है जो पूरता है और गलता है। क्या कभी १० जीव मिलकर एक पिण्ड बन सकेंगे ? यह मोही जीव मोह कर करके हैरान हो जाता है और इतना व्यामोह करता है कि मैं और पुत्र ये दोनों एक ही जीव हैं और चाहते हैं एक बन जायें, पर बन सकते नहीं हैं एक पिण्ड। ऐसे ही अन्य कोई भी द्रव्य न पूर सकता है, न गल सकता है। पुद्गलमें ही यह स्वभाव है कि वह मिल कर पिण्ड बन जाय और गलकर अलग हो जाय अथवा पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जायें। यह स्वरूप भी अन्य द्रव्यमें नहीं है। धर्मद्रव्य एक अमूर्तिक पदार्थ है जिसके होने पर जीव और पुद्गल गमन कर पाते हैं। सर्वत्र लोकाकाशमें भरा है ऐसे ही अधर्म द्रव्य भी भरा है जिसके होने पर चलता हुआ जीवपद्गल ठहर सकता है। आकाशद्रव्य तो कुछ जल्दी समझमें आ जाता है और लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य सदा अवस्थित रहता है। ऐसे इन ६ प्रकारके द्रव्योंमें कोई एक दूसरे रूप नहीं होता। अगर हो जाय तो वह भेद नहीं है।

**शरीरमें स्थिरताके भ्रमका कारण शरीरकी सीमित समाकारता**—ये पृथ्वी, जल आग, हवा आदि कालान्तरमें एक दूसरे रूप हो जाते हैं इसलिए मूलतः ये भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, ये सब एक पुद्गल जातिमें गर्भित हैं। यह शरीर पुद्गल है, इसमें अनेक परमाणु आते हैं और अनेक निखरते हैं। ऐसे इस बिगड़ने वाले इस देहपिण्डमें इन मूढ आत्मावों की क्यों आत्मबुद्धि हो गयी ? उसका कारण भेद विज्ञान का अभाव है। वहाँ नये परमाणुके आने से कभी यह शरीर बछड़ा जैसा नहीं बन जाता है। कहीं मुँहमें कुछ लम्बे ढंगसे परमाणु चिपक जायें तो यह बछड़ाका मुँह बन जाय ऐसा नहीं देखा जाता है। कितने ही परमाणु आते हैं और जाते हैं, फिर भी समान आकार रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शरीर तो वही का वही है जो कल था जो सुबह था, भिन्नता नहीं नजर आती है। ऐसी स्थिरता दिखनेके कारण भी यह व्यामोही जीव इस को आत्मरूपसे मानता है।

**बको स्थायी माननेकी जीवमें प्रकृति**—भैया ! हम आप सब जीवोंमें इतनी बात तो भाती है कि हम उसे मानते हैं अहं, जो स्थिरतासे रहता हो। अस्थिर चीजमें मैं माननेकी तैयारी नहीं होती। यह एक भीतरी प्रकृति है जीवकी। यह जीव किसी अस्थिर रूप अपनेको मानना नहीं चाहता। इसको शरीरके बारेमें यदि यह पता रहे कि यह अस्थिर है

तो इसमें स्वत्वकी बुद्धि न कर सकेगा। इस व्यामोही जीवको इस शरीरमें जो कि समान आकार वाले हैं इस कारण से स्थितिकी भ्रांति हो गयी कि यह शरीर सदा रहने वाला है, सदा टिकने वाला है, मैं वह हूं जो सदा टिक सकूँ सो इस प्रकारसे इसने इस देहको आत्मा माना है। अभी किसी गरीबको ही कहा जाय कि तुमको हम एक दिनके लिए लखपति बनाये देते हैं। ये सारे मकान, सारी जायदाद तुमको देते हैं और दूसरे दिन जो कुछ तुम्हारे पास भी है उसे भी छुड़ा लेंगे और निकाल देंगे। तो वह क्या मंजूर करेगा? न मंजूर करेगा। वह तो यही कहेगा कि हमें तो ऐसी स्थिति मंजूर है जो सदा रहे। ऐसी गरीबी ही वह तो मंजूर करेगा। एक दिनको धनी कबूल करके फिर अपनी भी निधि गांठसे लुटा दें, ऐसी स्थितिको मंजूर नहीं करेगा। यह चाहता है कि मैं तो वह रहूं, जो सदा रह सकता हूं, वह होऊं। इससे अन्तरंगकी प्रवृत्ति समझ लीजिए कि इसकी चाह है, इसकी प्रतीति है कि मैं वह हूं, जो सदा रह सकता हूं, इतनी तो अच्छी बात है, किन्तु इस शरीरको ही इसने ऐसा समझ लिया कि यह सदा रह सकता है, क्योंकि समान आकारका बना रहता है, इससे इस शरीरमें आत्मबुद्धि कर ली है।

अतिनिकटकालमें शरीरके विनाशकी संभावनामें धर्मानुरागकी प्रगति— नीतिकार कहते हैं कि धर्म वही पाल सकता है, जो यह विश्वास रखता हो कि मृत्यु तो मेरी चोटी पकड़े हुए है, जब चाहे झकझोर दे और तब ही मुझको यह शरीर छोड़कर जाना पड़ेगा— ऐसी जिसमें प्रतीति है, वही धर्मपालन कर सकता है। जो यह जानता है कि ऐसा मैं सदा रहूंगा, जैसा वैभववान् हूं, परिवारवान् हूं, शरीर वाला हूं—ऐसा मैं सदा रहूंगा तो उसे धर्मपालनकी उत्सुकता न होगी। कभी देखा भी होगा कि कोई बड़ा तेज रोग हो गया हो या किसी विकट दंगेमें फस गया हो या कहीं आगका सामना हो गया हो या समुद्र आदिकमें कुछ डूबनेकी आशंका हो या घरमें बड़ा तेज रोगी होकर पड़ा हुआ हो, जंगलमें बहुत भटक गया हो, जहां यह आशंका हो कि किसी भी समय कोई सिंह आदि आकर मुझे खा सकता है—ऐसी जब कोई स्थिति आती है तो प्रायः यह जीव धनकी, परिजनकी याद न करके यह याद करता है कि ओह! इन संकटोंसे मैं बच जाऊँ तो खूब धर्मधारण करूँगा और अपने जीवनको सफल करूँगा। जब यह भावना होती है कि मृत्यु तो मेरे सिरपर खड़ी हुई है, जब चाहे मैं झकझोरा जा सकता हूं तो इसकी धर्मपालनकी दृष्टि होती है और यह ज्ञान धारण करता है।

शरीरस्थितिके भ्रममें आत्मभ्रान्ति-- जिसने इस अस्थिर परमाणु के समूहमें स्थिर बुद्धि करली है, वह तो अबुद्धि बनकर इसको ही आत्मा मानता है कि यह ही मैं हूं। जो जिसको अहंबुद्धिसे स्वीकार करता है, वह उसकी प्रगतिमें रहता है। जिस ज्ञानी संत पुरुषने देहसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप इस चेतनतत्त्वको ही मैं आत्मा हूं— ऐसा मान लिया, वह इस चेतन तत्त्वके विकासमें ही अपना कल्याण समझेगा। एक इस चिद्विलासमें ही उत्सुकता बनेगी और जिसने शरीरको माना है कि यह मैं हूं—ऐसा हट्टा-कट्टा, दुबला, पतला, गोरा, सांवला, ठिगना, लम्बा, किसी भी रूप इस शरीरको यह मैं हूं ऐसा मान लेता है तो अब वह इस शरीरकी प्रगतिमें रहेगा। शरीर जैसे राजी होता है—पञ्चेन्द्रियके विषयोंका जिसका प्रयोजन होता है यों समझ लीजिए अलकारमें, इस शरीरको जिसने आत्मरूप में स्वीकार कर लिया है, वह उसकी प्रगतिके लिए यत्नशील रहता है। ये प्रवेश करने वाले और गमन करने वाले अणुवोंके समूहरूप देहमें समाकृति होनेके कारण जिनको स्थिरताका भ्रम हो गया है कि यह जीव तो सदा रहने वाला है, तब यह मैं हू—इस प्रकारकी उन सब अज्ञानियोंकी बुद्धि बनती है।

मिथ्याज्ञानका महासकट व कुरसका स्वाद— भैया! मिथ्याज्ञानसे बढ़कर कोई दुनियामें सकट नहीं है। संकट तो उसे कहते हैं, जहा यह आत्मा बेचैन हो, असतुष्ट हो। यह संकट अज्ञानसे भरा हुआ है, अत्यन्त भिन्न है, जिसका मुझमें कुछ वास्ता ही नहीं है—ऐसे इन धन सम्पदा आदिक पदार्थोंमें 'यह मैं हू, यह मेरा है' ऐसी जो बुद्धि लगाता है, वह सकटमें है, अज्ञान अन्धेरेमे है। सम्यग्ज्ञानसे बढ़कर कुछ वैभव नहीं और मिथ्याज्ञानसे बढ़कर कुछ संकट नहीं। स्वाद तो उसका ही आएगा, जिसकी ओर दृष्टि है, जिसकी रुचि है। यह जीव भावात्मक पदार्थ है और भावोंको ही करता है, भावोंको ही भोग सकता है। जैसा इसका भाव होगा, तैसा ही इसे स्वाद आएगा।

जैसे एक अल्प कथानक है कि राजाने भरे दरबारमें मन्त्रीसे कहा कि मंत्रीजी! रात्रिमें मैंने ऐसा स्वप्न देखा कि हम तुम घूमने जा रहे थे। रास्तेमें दो गड्ढे मिले। हम तो गिर गए शक्करके गड्ढेमें और तुम गिर गए मलके गड्ढेमे। मन्त्रीने कहा कि महाराज! ऐसा ही हमने भी स्वप्न देखा, पर थोड़ा इसके आगे और देखा कि हम तुम्हें चाट रहे थे और तुम हमें चाट रहे थे। अब यह बतावो कि राजाको क्या चटाया? मल। और स्वयने क्या चाटा? शक्कर। जैसी जिसकी दृष्टि होती है, उसके अनुसार

-से रस आता है, अनुभूति होती है। हमारी दृष्टि अज्ञानभरी है तो वहां स्वाद अज्ञानका है। मोह विषका ही स्वाद है।

ज्ञानदृष्टिमें ज्ञानसुधारसका स्वाद— भैया ! हमारी दृष्टि ज्ञानसे भरी है तो भले ही हम देहमें फंसे हैं, लेकिन स्वाद आयेगा उसका ही, जिस ओर हमारी निगाह है। हम यदि इस शरीरसे भेदभावना करके विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको निरख रहे है तो वहां एक भी संकट नही है। जहां इस आत्मस्वरूपसे चिगकर अन्य पदार्थोंमे 'यह मेरा है, मैं इसका हूं' ऐसी कुबुद्धि की जाती हैं तो संसारसमुद्रमें गोते ही खाते रहना पड़ेगा। मोहसे बढ़कर दुनियामे कुछ संकट नहीं है। व्यर्थका मोह है। मेरा मेरे स्वरूपके सिवाय कौन है ? स्वभावत. सब जुदे हैं, एक दूसरेसे विमुख हैं। किसीमे मैं मिला हुआ नहीं हूं। मुझे कौन कब सहारा हो सकता है ? सब भिन्न हैं- ऐसी दृष्टि नहीं की जा सकती है मोहमें। इतना साहस नही बनता है कि जो बात जैसी है, उसे उस ही प्रकार हम मान लें। अज्ञानमें रहेंगे तो केवल क्लेश ही भोगने पड़ेंगे। यदि ज्ञानभावमे रहेंगे तो हमारे सब संकट छूट जायेंगे।

संसारमार्ग व मोक्षमार्गका मूलदेहके सम्बन्ध व असम्बन्धका विनिश्चय— जो ज्ञानका विस्तार होगा, अज्ञानका विस्तार होगा, उन सबका मूलसाधन देह और जीवके परस्पर सम्बन्ध और असम्बन्ध देखनेका है। जैसे कहीं दो तीन सड़क सामने फूट गए हैं तो जहांसे फूटे हैं, उससे पहिले का जो मार्ग है, वह मूलमें है, उसके ही बाद फिर रास्ता फूट गया है। ऐसे ही इस देह और जीवके प्रसंगमें यह मूल बात है कि संबन्ध मानें तो इन समस्त संकटोंका विस्तार बनता जाता है और संबन्धको न माने तो सब के सब सकट समाप्त होते हैं। यह अज्ञानी जीव मिलते जुलते रहने वाले परमाणुओंके समूहको स्थिर बताया करता है और इसी कारण से यह मैं हू, यह मैं हूं, यह मैं अमुक हू—ऐसी कल्पना बनाता है, यही उसके सर्वसंकटोका मूल है।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलं ज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

शान्तिमार्गके लाभका उपाय— मैं गौर हू, स्थूल हूं, कृश हूं, वृद्ध हूं, बाल हूं आदिक रूपसे शरीरके साथ अपने आत्माको न जोड़कर सदा अपने आपको केवलज्ञानस्वरूप चित्तमें लाना चाहिए। जैसे किसीने सोचा कि मै मोटा हूं तो मोटापन शरीरके होता है अथवा आत्माकी चीज है ? शरीरकी चीज है। शरीरके इस धर्मको अपने आत्मामें जो जोड़ता है उसे

उसके अनुकूल संकल्पविकल्पमें जुतना पड़ता है— ऐसे ही मैं गोरा हूं, मैं सावला हूं आदिक रूपसे जो शरीरके धर्मको अपने आत्माके साथ जोड़ता है, वह भी संकल्पविकल्पसे परेशान होता है। जो शरीरके धर्मको आत्मा के साथ न जोडे और केवल ज्ञानशरीरमात्र अपने आपको निहारे तो वह शांतिके मार्गमें बढ़ सकता है।

प्राकरणिक भेदविज्ञान— जो जाननहार पदार्थ है, वह मैं पदार्थ हूं। जाननहार पदार्थमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं हैं। इस आत्मामें अन्य आत्मावों या अन्य पदार्थोंका जोड़ नहीं होता, पूर्ण नहीं होता, इस कारण यह आत्मा न मोटा है, न दुवला है, न सावला है, न गोरा है। किसी भी प्रकारका रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इस आत्मामें नहीं हैं। आत्माका तो केवल एक ज्ञायकस्वरूप है। जो आत्मकल्याण चाहते हैं, ऐसे पुरुषोंको चाहिए कि वे इस आत्माको इस पुद्गलपर्यायमें एकमेक न करें और इसे अपने रूप न मानकर अपनेको कल्याणस्वरूप समझें। इसीका नाम भेद-विज्ञान है। जिन जिन जीवोंने शांति पाई है, वह भेदविज्ञानके उपायसे ही पाई है।

विकट व्यामोह— अहो, कितना मिथ्या आशय मोहीप्राणीका है कि प्रकट भिन्न हैं परपदार्थ, किन्तु उनसे ही मोही अपना जीवन समझते हैं। कोई ऐसे भी व्यामूढ पुरुष होते होंगे कि जिनके वारेमें ऐसी वात भी प्रसिद्ध है कि कोई एक भूखा पुरुष एक रुपया लेकर चला बनियेकी दूकानपर कुछ आटा, घी आदि लेने। सस्ता जमाना था। तौल दिया खाद्य सामान और जब रुपया देने लगा तो वहुत देरसे मुट्ठीमें रुपया लिए रहनेके कारणसे पसीज गया तो उसने रुपएकी ओर देखा कि यह मेरा रुपया रो रहा है, आ गया ना पसीना। अब कहता है कि रोवे मत, मर जई हैं, पर तुम्हें न भजई हैं। सो वह तो आटा, दाल, घी आदि छोड़कर वापिस आ गया। होते होंगे कोई ऐसे लोग।

मक्खीचूसकी उपपत्ति— एक कहावत प्रसिद्ध है कि "कंजूस मक्खी चूस।" मक्खीचूसका मतलब यह नहीं है कि जो मक्खी चूसा करते हैं, उन्हें मक्खीचूस कहते हैं। एक जौहरीकी लड़की थी। वह एक घी वेचने वालेके घर ब्याही गयी। उसका घीका बड़ा भारी काम था। घी वाला भी लखपति आदमी था और वह जौहरी भी वैसा ही लखपति था। एक दिन जौहरीकी लड़कीने देखा कि घीमें एक मक्खी गिर गई, उसके स्वसुर साहब उसे निकाल रहे हैं। मक्खीके कहीं एक बूंद घी चिपका रह गया, उस एक बून्द घीको स्वसुर साहब उस मक्खीको पकड़े हुए टपका रहे थे। जौहरी

की लड़कीने जब यह देखा तो उसके सिरमें दर्द हो गया, वह आह भरने लगी। ओह मैं कैसे लखपति जौहरीकी लड़की और कैसे मक्खीचूसके घर ब्याही गयी? उसके सिरदर्दका समाचार स्वसुर साहबके पास पहुंच गया। स्वसुर साहब आए तो देखा कि बहू तो बड़ी बेचैन है। बहुतसे डाक्टर आये, पर उसका सिरदर्द न मिटा। जब मनके विचारसे कोई वेदना हो जाती है तो वह औषधिसे नहीं मिटा करती है। उसका सिरदर्द ठीक न हुआ तो स्वसुर साहबने पूछा कि बहू यह तो बतावो कि तुम्हारे सिरका दर्द मिटेगा कैसे?

बहू बोली कि क्या बतायें? जब हमारे घर पर सिरदर्द होता था तो मुट्ठी भर असली मोतियोंको पीसकर उनका लेप मस्तक पर लगाया जाता था। स्वसुर साहब बोले कि यह कौनसी बड़ी बात है? उसने अपने खजान्चीको हुक्म दिया कि एक लाख रुपये निकालो व इसी समय बढ़िया मोती ले आवो। थोड़ी ही देरमें एक लाखके बढ़िया मोती आ गए। सेठ जब उन मोतियोंको पीसने लगा तो उसी समय बहूने रोक दिया और कहा कि बस पिताजी! मोतियोंको अब मत पीसो, हमारा सिरदर्द ठीक हो गया। अरे ठीक कैसे हो गया? दवा तो करनी ही पड़ेगी। बहूने कहा कि दर्द मिट गया। दर्द तो हमारे यों हो गया था कि आप एक मक्खीको पकड़े हुए उसमें लगा एक बून्द घी टपका रहे थे। ऐसे मक्खीचूसको देखकर मेरे सिरमें दर्द हो गया था और जब देखा कि आप जरासे सिरदर्दमें लाखों रुपएके मोती पीसने जा रहे हैं तो दर्द ठीक हो गया। अब स्वसुर साहब बहूसे कहते हैं कि बहू! अभी तुम नहीं जानती हो कि जब कमाया जाता है तो इस तरह कमाया जाता है और जब खर्च किया जाता है तो इस तरह खर्च करते हैं।

शानका फैलाव— भैया! कितने तरहके व्यामोह हो जाते हैं। ये सब व्यामोह शरीरकी विडम्बनाके कारण होते हैं। यह मैं हूं, मैं ऐसा हूं, मुझे लोग समझें कि मैं क्या हूं? जैसे भिखारियोंकी जमात होती है तो वे परस्परमें शान मारते हैं कि मैं इस कलासे भी मांग लाता हूं, इस तरहकी रोती हुई शकल दिखा देता हूं कि बड़े बड़े सेठोंका दिल भी हिल जाता है और वे भी कुछ न कुछ दे देते हैं। वे भिखारी भी परस्परमें अपनी शान मारते हैं। ऐसे ही ये सब मोहीजीव भी अपनी शान बगराते हैं। मोही कहो, चाहे मूढ़ कहो, चाहे मूर्ख कहो; इनका सबका अर्थ तो एक ही है। ये सब मूढ़जीव या ये सब मूर्ख जीव भी ऐसे ही मूढ़जीवोंमें ऐसी अपनी शान बगराते हैं।

लौकिक अलौकिक जिज्ञासा-- ये सब मायाजाल हैं। इनमें प्रीति करनेसे क्या हित है? ऐसी बात सुनकर कोई यह शंका कर देगा तो साहब ऐसे ही अपने घर बैठे रहें, न देशका काम करें, न चुनाव लड़ें, न कुछ करें, ऐसे ही बैठे रहें घरमें। ये भिन्न भिन्न रुचियां होती हैं। कोई ब्रह्मचर्यव्रत धारण करनेका उपदेश दे और वहां कोई सोचे कि ऐसे ही अगर सब ब्रह्मचारी बन जाएँ तो फिर संसार कैसे चले? ऐसे भी शंकाकार होते हैं, जिन्हें दुनियाकी ज्यादा फिकर पड़ जाती है। अरे बड़ी बड़ी शुद्ध भावनाएँ, बड़े बड़े प्रयत्न कर लेने पर भी कोई विरला ही धर्ममें स्थिर हो पाता है। यह तो संसार है, असार है, ऐसा कैसे हो सकता है कि सब हो जायें ब्रह्मचारी। ऐसा कैसे हो सकता है कि सभी आत्मकल्याणका यत्न कर लें। मानलो कि कदाचित् सब ब्रह्मचारी हो जायें और संसार न रहे, मिट जाए तो भला हुआ या बुरा हुआ? अरे सब जीव कहां जायेंगे? मुक्त हो जायेंगे। संसारी न रहे तो क्या हानि है, क्या चिंता है? चिंता करो आत्मकल्याणके लिए।

स्वयंकी स्वयसे ही रक्षा-- भैया! यह सारा अन्धेरा है, मायाजाल है, यहां कुछ भी बात सत्यभूत नहीं है, प्रामाणिक नहीं है। यहां किसे अपना नाम दिखाना चाहते हो? कौन तुम्हारा यहां परमेश्वर है, जिसके हाथमें तुम्हारा भविष्य निर्भर है। अन्यको प्रसन्न करनेके लिए, अन्यमें अपना नाम प्रतिष्ठित रखनेके लिए उद्यम करना, यह हितकी बात नहीं है। जैसे भयानक जंगलमें जहां सामने तो नदी हो, अगल बगलके पहाड़ोंमें आग लगी हो, पीछेसे १०० शिकारी तलवार, बन्दूक, धनुषबाण लिए एक हरिणका पीछा कर रहे हों तो बताओ कि हरिणका उस समय व्यवहारमें कोई भी रक्षक है? कहां जाये वह हरिण? आगे गया तो नदीमें कूदकर मरेगा, अगल बगल गया तो जगलमें जलती हुई आगमें जल मरेगा और पीछे मुड़ा या वहीं रहे तो बन्दूककी गोलियां सहेगा। क्या करे वह हरिण? जैसे उस स्थितिमें वह हरिण अरक्षित है—ऐसे ही इस लोकमें आपका कौन सहाय है? हम आप सभी यहां असहाय हैं, यहां कोई भी रक्षक नहीं है। अपने परिणामको निर्मल करो तो रक्षा होगी। परिणामों की निर्मलता तब होगी जब मोह न होगा।

ज्ञानातिरिक्त अन्य आशयोंमें अशान्ति—अपनी शांति चाहते हो तो अपना काम भीतरसे बना लो। घरमें बसते हुए भी सच्चा प्रकाश अपने उपयोगमें लावो। इस अमूर्त आत्माका एक अणु भी कुछ नहीं है। कोई भी जीव मेरा कुछ नहीं है—ऐसी विशुद्ध एकत्वभावना जगे तो अपना

पुरुषार्थ अपने को शरण होगा, अन्यथा बहुत दुर्गतियोंमे भटकना पड़ेगा। अपना भविष्य अपनी प्रतीतिपर निर्भर है। मैं अपनेको कैसा मानूं तो क्या गुजरेगा यह अपनी प्रतीतिपर निर्भर है। कोई यह प्रतीति रख रहा हो कि मैं बच्चों वाला हूं तो क्या उसे बच्चोंकी सेवा न करनी पड़ेगी? करनी पडेगी। कोई अपने को मानता हो कि मैं इस नगरमें एक पोजीशन वाला हूं तो क्या उसे अपनी पोजीशन रखने के लिए दूसरोंके आधीन न होना पड़ेगा? जो सोचता हो कि मैं धनवान् हूं तो क्या वह धनकी वृद्धिके लिए यत्नशील न रहेगा? रहेगा। और कोई यह जाने कि यह मैं आत्मा मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप हूं तो क्या वह इस ज्ञानानन्दस्वरूपकी उपासनामे न लगेगा? लगेगा। ऐसे ही जो पुरुष अपनेको इस रूप समझते हैं कि मै काला हूं, सावला हूं, मोटा हूं, दुबला हूं और इस अभिप्राय पर यह समझता है कि मैं सुखी हूं, दु:खी हूं, गरीब हूं, धनी हूं--ऐसा पुरुष अपने आपमें बसे हुए ज्ञानमय चैतन्यप्रभु का दर्शन नहीं कर सकता है जिसमें अतुल शान्ति और आनन्द भरा हुआ है।

आत्माकी झलक— जो पुरुष अपने आत्माको इस शरीरके साथ अभेदरूप नहीं करता है एक नहीं मानता है, वह पुरुष केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको निरख सकता है। यह कुछ कठिन नहीं है, दृष्टि जानेकी बात है। एक बार एक राजा घोड़े पर चढ़ा हुआ कहीं जा रहा था। रास्ते मे मिला दीवान का घर। वह बड़ी विवेक और ज्ञानकी बात करता था। राजाके मनमें कुछ ऐसा आया कि मैं इस दीवानसे कुछ धर्मचर्चा की बात छेड़ूँ। राजाने कहा— दीवान जी हमे तुम आत्मा और परमात्मा दिखावो। तो दीवानने कहा कि आप बैठो एक आध घंटेका समय दो, तब सुन लीजिए। तो राजा बोला कि मुझे आध घंटेका समय कहां है? तुम ५ मिनटमें बतला सकते हो तो बतावो। तो दीवान बोला कि हमारा कसूर माफ कर दो तो हम ५ मिनटमें नहीं, एक ही मिनटमें तुम्हें आत्मा और परमात्मा बता सकते हैं। राजा बोला, हां माफ। सो दीवान ने क्या किया कि राजाके हाथसे कोड़ा छीना और दो चार कोडे राजाके जमा दिये। राजा कहता है अरे रे रे भगवान् तो दीवान कहता है कि जिससे तुम अरे रे रे कह रहे हो वह तो है आत्मा और जिसे भगवान् कह रहे हो वह है परमात्मा। आया समझमें कुछ? तो राजा बोला हां आ गया समझमें। तो जब दु:ख आ पड़ता है तो सब समझमें आ जाता है। आराममें मौज में सुखमें रहते हुए विषयोंके साधन मिलते हुएमें धर्मकी बात तनिक देरमें समझमे आती है।

रागियोंका संकटमें धर्मकी ओर ख्याल— भैया यहां धर्म करनेकी इच्छा ही कहां होती है। संकट हो, कष्ट हो तब धर्मकी भावना होती है। विरले ही ज्ञानी विवेकी पुरुष होते हैं ऐसे जो कि सुख सामग्री की स्थितिमें भी धर्मका बड़ा ध्यान रखते हैं, अन्यथा तो ये सब कष्ट ही समझते हैं अच्छे मार्गमें चलने को। गुरु जी ने एक कथा सुनाई थी कूजड़ी की। राजा कहीं जा रहा था, बाजारमें कहीं कूँजड़ी की लड़की बैठी थी, तो राजाके मनमें आया कि इस लड़कीके संग शादी करनी चाहिए। राजाने भेजे दो चार मंत्री अफसर आदि कूँजड़ीके घर कूँजड़ीसे उसकी लड़कीके के लिए कहा कि राजा शादी करना चाहता है। तो उसने कहा कहांसे आये अड़ुवोंके भड़ुवे। कई गालियां उसने सुनाईं। दूसरी बार भी राजा ने सिपाहियों को भेजा तो फिर उसने गालियां सुनाईं। एक बार एक छोटा सिपाही राजाके पास गया, बोला महाराज क्यों चिंता करते हो? तो राजाने सारी कहानी सुनाई। सिपाही बोला कि यह कौनसी बड़ी बात है, हम शादी करवायेंगे। सिपाहीने जाकर उस कूँजड़ीको घसीटा पीटा। कूँजड़ी हाथ जोड़कर कहती है कि अरे भड़ुवे बात तो बतावो। तो सिपाहीने कहा कि तुझे अपनी लड़की की शादी राजाके साथ करनी है। तो वह कूँजड़ी कहती है कि पहिले इस तरहसे क्यों किसी भड़ुवेने न समझाया तो ये जगत्के जीव लौकिक सुखी होकर भी शान्तिसमृद्धिमें नहीं हैं। इनके तो जब कोई संकट सिर पर आता है तभी थोड़ा ख्याल होता है कि धर्म करना चाहिए।

न मैं को मैं माननेकी दुर्बुद्धि— इतना व्यामोह है इस शरीरके साथ मुग्ध प्राणीका कि यह शरीरसे भिन्न अपने आपके स्वरूपको समझता ही नहीं है। किसको "मैं" बोल रहा है यह बहिरात्मा पुरुष? इसे अन्तर की दृष्टि तो है ही नहीं। किसको "मैं" कह रहा है यह? कल्पनाओंकी उत्पत्तिका जो स्रोत है उसकी तो खबर नहीं है और जो इसकी प्रतीतिमें और दृष्टिमें आ रहा है उसके कल्पना होती नहीं। तो कौन बोल रहा है कि मैं आया, मैं आऊंगा, यह मैं हू। कोई आधार नहीं है। सब मायारूप हैं। शरीरको भी वह मैं नहीं कहता, आत्माको भी मैं नहीं कहता। शरीर शरीर है, ऐसा जानकर वह मैं नहीं बोल रहा है। इस शरीरको और आत्माको एकमेक निरखकर फिर वह बोलता है कि यह मैं हूं, यह मैं आया—ऐसा मैं मैं चिल्लाता है। उसका क्या परिणाम है? कष्ट ही कष्ट है।

स्वगुप्ति— अरे भैया! न होते आज हम आप लोग इस मनुष्यभव

मे तो इस मुझके लिए यहां के राग रंग ये कुछ भी न थे। अब सुयोगवश यह मनुष्यभव मिला तो इसका ऐसा ही लाभ लूट लो कि मेरे लिए यहां पहिले भी कुछ न था और अब भी कुछ नहीं है। योग्यता पायी हैं तो अपनेमें गुप्त रहकर, अपने इस गुप्त स्वरूप की उपासना करके गुप्त ही अपना गुप्त कल्याण करलें, ऐसी भावना अन्तरात्मावोंके हुआ करती है। शरीरके धर्मको आत्माके साथ न जोड़कर केवल ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपको विचारनेसे ये सब समृद्धियां स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं।

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य यस्य चित्तेऽचला धृतिः
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥७१॥

जिस पुरुषके चित्तमें अचल आत्माकी अचल धारणा रहती है उसको मुक्तिकी प्राप्ति नियमसे होगी, किन्तु जिसे इस अचल आत्माकी अचल धारणा नहीं रहती उसकी मुक्ति नहीं है। आत्माका स्वरूप अचल है, प्रत्येक पदार्थका स्वरूप अचल है। जो पदार्थ जिस असाधारण गुण स्वरूप है वह उस स्वरूपको त्रिकाल त्याग नहीं सकता। स्वरूपसे स्वरूपवान् भिन्न पदार्थ नहीं है। जैसे गरमीसे अग्नि कुछ भिन्न नहीं है, गरमी निकल जाय कदाचित् तो इसका अर्थ यह होगा कि आग ही खत्म हो गयी। इसी तरह पदार्थका जो असाधारण स्वरूप है वह स्वरूप निकल जाय तो इसका अर्थ यह हो गया कि पदार्थ ही नहीं रहा। आत्माका असाधारणस्वरूप है चैतन्यभाव। यह आत्मा चित्स्वरूप है। जैसा है वैसा बतानेकी जो पद्धति है वही असाधारणस्वरूप कहलाता है।

प्रत्येक पदार्थ साधारण गुणोंसे भी युक्त है और असाधारण गुणसे भी युक्त है। कुछ भी वस्तु यदि है। तो उसमें ६ बातें अवश्यंभावी हैं, प्रथम तो वह "है"। दूसरी बात वह अपने स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नहीं है। तीसरी बात वह निरन्तर परिणमता रहता है। चौथी बात वह अपनेमें ही परिणमता है दूसरे पदार्थमें नहीं परिणमता है। ५ वीं बात वह पदार्थ है ना तो किसी न किसी आकारको लिए हुए रहता है और छठी बात यह है कि वह पदार्थ किसी न किसीके ज्ञानमें आ ही रहा है। इन ६ बातोंमें से कोई भी एक गुण न हो तो इसका अर्थ यह है कि वह पदार्थ ही कुछ नहीं है।

अस्तित्व और वस्तुत्वगुणका प्रसाद— जैसे चेतन आत्माको ही उदाहरणमें लो, इसके चैतन्यस्वरूप पर अभी दृष्टि न दो किन्तु इसका अस्तित्त्व ही सिद्ध करना है—इतना ही प्रयोजन रक्खो तो इस आत्माके बारेमें देखते ही होंगे कि यह आत्मा है, इसमें अस्तित्त्व है। यह सद्रूप

है और फिर यह आत्मा अपने स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नहीं है। यह अपने ही गुणसे है पर आत्माके गुणसे नहीं है और समस्त अचेतन पदार्थोंके स्वरूपसे नहीं है ऐसी दूसरी बात भी इस आत्मामें होती है। यदि यह दूसरा गुण न हो तो आत्माका अस्तित्त्व ही क्या रह सकता है अर्थात् यह आत्मा परके स्वरूपसे हो अथवा अपने स्वरूपसे न हो तो आत्मा क्या रहा? आत्मा तो पुद्गल आदिक परके स्वरूपसे भी बन गया; अब कहां आत्मा रहा और स्वरूपसे न हो तो आत्मा ही क्या? इसमें यह दूसरी बात होनी भी आवश्यक है।

द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व गुणके कारण ध्रौव्यव्यवस्था— तीसरी बात है आत्मा प्रतिक्षण परिणमता रहता है। यदि यह गुण न हो तो इसका अर्थ यह है कि आत्मा अपरिणामी है। जैसे कि अन्य लोग मानते हैं कि आत्मामें कभी कुछ भी परिणमन नहीं होता है। जिसमें परिणमन न हो, वह सत् ही नहीं है। कौनसा पदार्थ ऐसा है कि जो न बनता हो और न बिगड़ता हो और रहता अवश्य हो। ऐसा एक भी उदाहरण दो। प्रत्येक पदार्थ अपनी नवीन पर्याय बनाते हैं और पुरानी पर्यायका व्यय करते हैं। इसके आत्मामें परिणमनशीलताका होना भी आवश्यक हुआ। चौथी बात है कि यह आत्मा अपने ही स्वरूपमें परिणमता है, परके स्वरूपमें नहीं परिणमता है। यदि यह बात न मानी जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा परके स्वरूपसे भी परिणमेगा। यदि यह जीव किसी शरीर आदिक के स्वरूपसे भी किसी अन्य धन सम्पदा आदिकके स्वरूपसे भी परिणमे तो फिर यह आत्मा क्या रहा? इस कारण यह चौथा गुण भी सब पदार्थोंमें आवश्यक है।

प्रदेशवत्त्व व प्रमेयत्त्व गुणके कारण वस्तुसिद्धि— ५वीं बात कही गयी है कि आत्माका कोई न कोई आकार है। यदि आकार न हो तो किसी पदार्थके अस्तित्त्वकी कल्पना ही नहीं बन सकती है। मनुष्य तो हो, पर उसका आकार कुछ न हो, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई कुछ न हो तो ऐसा भी बिना आकारका कोई मनुष्य है क्या? पदार्थ है तो उसमें आकार अवश्य है। आकार बिना आत्मामें अस्तित्त्व नहीं है। छटवीं बात क्या है? किसी न किसी ज्ञानके द्वारा वह प्रमेय है। कोई न कोई उस पदार्थको जानता ही है। कल्पना करो कि कोई पदार्थ क्या ऐसा होगा, जो किसीके भी द्वारा ज्ञानमें नहीं आ सकता है? प्रथम तो यह आपत्ति है कि उस पदार्थका अस्तित्त्व ही कौन समझेगा? जब किसीके ज्ञानके द्वारा किसी भी प्रकार प्रमेय ही नहीं है तो कौन जानेगा? दूसरी आपत्ति यह है कि ज्ञानका तो

स्वरूप ही कुछ न रहा। ज्ञान उसे कहते हैं कि जो जान जाये। किसे जाने जाये? जो हो उसे जान जाये। ज्ञानमें यह सामर्थ्य है कि जो कुछ भी सत् है, उसे यह ज्ञान जान लेता है। यदि कुछ पदार्थ सही हो मगर ज्ञानमें ज्ञात न हो तो उसका अर्थ यह है कि ज्ञानका स्वरूप ही नहीं है। यों अनेक युक्तियोंसे यह बात सिद्ध है कि प्रत्येक पदार्थ प्रमेय भी अवश्य है। ये ६ साधारणगुण सब पदार्थोंमें रहते हैं।

असाधारणगुणसे वस्तुस्वरूपप्रकाश— भैया! साधारणगुणोंको समझ लेने मात्रसे पदार्थका स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ। यों तो सर्व एक सत्-रूप हुए। यहां अर्थक्रिया नहीं उत्पन्न हो सकती है, किन्तु सर्व एक सत्रूप होते हों—ऐसा नहीं। विशेषधर्मके बिना सामान्यधर्म कहलाता ही नहीं है। जैसे कोई न बालक हो, न जवान हो, न बूढ़ा हो और हो मनुष्य तो क्या ऐसा कोई है? नहीं है, लेकिन विशेष अवस्था उसकी अवश्य है। विशेष अवस्था बिना सामान्य बात आ ही नहीं सकती है। यों तो प्रत्येक पदार्थ अपने विशेषस्वरूपको लिए हुए है। आत्मामें वह विशेषस्वरूप चैतन्य है। अब आइए चैतन्यस्वरूप तक।

अचलकी अचला धृति— यह आत्माका चैतन्यस्वरूप अचल है। यह कभी चलायमान् नहीं हो सकता। अनादिकालसे अब तक यह जीव शरीरसे और कर्मोंसे संयुक्त चला आया है, फिर भी आत्मा न शरीररूप हुआ, न शरीर आत्मारूप हुआ। आत्मा चेतन ही रहा, शरीरादिक अचेतन ही रहे। यों आत्माका चैतन्यस्वरूप त्रिकाल भी छूटता नहीं है। ऐसे इस अचलस्वरूपवान् आत्मतत्त्वकी जो अचल धारणा रखते हैं, उन पुरुषों की मुक्ति अवश्य है। मुक्तिका मतलब है संकटोंसे छूट जाना। जिनको अपने अचलस्वरूपकी सुध है, वे संकटोंसे कभी अवश्य छूट जायेंगे। यह आत्मा चैतन्यस्वभावी अपनी अतीत समस्त पर्यायोंको चैतन्यात्मकतासे रचे हुए बनाये था और चैतन्यात्मतासे रचे हुए अपनी पर्यायोंको बनावेगा। अन्य अचेतनोंसे इसका संबन्ध नहीं हो सकता है। यों सबसे ही विविक्त स्वतन्त्र अपने स्वरूपास्तित्वरूप आत्माको जो अपनी धारणामें लेता है, उसके संकट अवश्य छूट जाते है। अरे अभी इतना ध्यानमें लाये कि मेरा स्वरूप अचल चैतन्यमय है, इसका किसी अन्य पदार्थसे रंच भी संबन्ध नहीं है—ऐसे विविक्त आत्मतत्त्वके दर्शनसे यही अन्दाज करलो कि सारे संकट समाप्त हो जायेंगे।

व्यामोहीकी कल्पित शान— यह व्यामोही जीव बाह्यपदार्थोंके संग्रह में, व्यामोहमें अपनी शान समझता है और उसीमें सारा यत्न लगाते रहने

पर तुला हुआ है। है क्या इसमे ? रंच भी सार नहीं है। प्रथम यह वतलाओ कि किसको प्रसन्न करनेके लिए, किसे राजी रखने के लिए इतनी मन, वचन, कायकी चेष्टाएँ की जा रही हैं ? ये कुछ सारभूत नहीं हैं।

सबको प्रसन्न करनेकी चेष्टाका व्यामोह— एक सेठ जी थे। उनके चार लड़के थे, ५ लाखकी जायदाद थी। बड़े आरामसे सबको एक एक लाख रुपये बांट दिये। खुद भी एक लाख रुपया ले लिया। अब सेठने चारों लड़कोंको बुलाया और कहा कि देखो बेटा ! अपन लोग बड़े आराम से न्यारे हो गये। कोई अड़चन नहीं पड़ी। अब इस खुशीमें अपनी बिरादरीके लोगोंको जीवनवार कर दो। बेटोंने कहा कि अच्छा पिता जी। सबसे पहिले छोटे लड़के ने अपने बिरादरीके लोगोंकी जीवनवारकी। तो उसने सात आठ प्रकारकी मिठाइयां बनवायी थीं। बिरादरीके लोग खाते जायें और परस्परमे कहते जाये कि मालूम होता है कि सेठ जी ने इस छोटे लड़केको सबसे ज्यादा धन दे दिया है, तभी तो खुश होकर इसने सात आठ मिठाइयां बनवायी हैं। लो उसने खिलाया पिलाया, फिर भी उन बिरादरी के लोगोंने इतनी-इतनी बातें कहीं। उसके बाद दूसरे लड़के ने सब बिरादरियोंको जीवनवार दिया तो उसने दो ही मिठाई बनवायीं। बिरादरीके लोग खाते जायें और परस्परमे बातें करते जायें कि यह लड़का बड़ा चालाक निकला। इसने तो दो ही मिठाई खिलाकर टरका दिया। इसने छोटे लड़के से भी ज्यादा धन रख लिया होगा। अब उसके बाद तीसरे लड़के ने जीवनवार किया तो उसने मिठाईका नाम ही न रक्खा। सीधे दाल साग पूड़िया बनावाई। तो बिरादरीके लोग खाते जायें और कहते जायें कि यह लड़का तो उन दोनोंसे भी चालाक निकला, इसने तो मिठाई का नाम ही नहीं रक्खा, रख लिया होगा उन दोनोंसे ज्यादा धन। अब सबसे बड़े चौथे लड़के ने पंगतकी तो उसने पक्की चीजका नाम ही नहीं रक्खा सीधे दाल, चावल कढी आदि बनवाया। तो बिरादरीके लोग जींवते जायें और कहते जायें कि यह तो सबसे बड़ा लड़का है, इसीके हांथमें चाभी रहती थी। इसीका सारा जाना हाल है। सबसे ज्यादा धन इसी ने रख लिया होगा, मगर इसने पक्की चीजका नाम भी नहीं लिया।

तृष्णामें शान्तिकी अपात्रता— भैया ! एक दृष्टिकी बात कह रहे हैं। घर-घरमें, पड़ौस-पड़ौसमें कषायोंकी अपनी-अपनी विभिन्नताए हैं। किस-किसको प्रसन्न करनेके लिए मन, वचन, कायकी चेष्टाएं की जा रही हैं। कुछ अपनी सुध लो, धनसे श्रद्धा हटावो, धनसे बड़प्पन है, इससे ही जीवन है ऐसी श्रद्धाको बिलकुल दूर करो। जब कीड़ा मकौड़ा जानवर

पशुवोंके भी अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार उनका भी जीवन चलता है तो हम आप लोगोंको क्या सुविधा न होगी ? अच्छा बतावो तो सही कि कितना धन मिल जाय तो फिर आगे तृष्णा न रहेगी ? कोई नाम लेकर तो बतावो । भले ही कोई आज अपनी परिस्थितिको देखकर उससे चौगुनी बात कह लेगा कि इतना धन हो जाय तो फिर हम कुछ भी तृष्णा न करेंगे, आगेकी आशा न रक्खेंगे, किन्तु कदाचित् हो जाय उतना धन, तो तृष्णा और बढ़ जाती है । एक उक्तिमें कहते हैं "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ।" तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हम लोग ही जीर्ण हो गए, अपना ही बुरा हो गया, पर तृष्णा नहीं मर सकी । तो जिसको बाह्यपदार्थोंमें तृष्णा लगी हुई है वह पुरुष कैसे मुक्तिका पात्र हो सकता है ?

अपना प्रयोजन— भैया ! शांतिके अर्थ यह कर्तव्य है कि हम सबसे भिन्न विविक्त अपने आपके आत्मतत्त्वको निहारें । साधुजनोंको तो केवल एक अपने उद्धारका ही काम पड़ा हुआ है और गृहस्थजनोंको मानलो, दो काम पड़े हैं, अपनी आजीविका बनाना और उद्धारका काम करना । धर्मधारण करना, इतना ही तो काम है । एक जीवकी जीविका और दूजे जीव उद्धार । कहां विडम्बना है गृहस्थको भी, कुछ विडम्बना नहीं है, परन्तु न सही ढंगमें आएँ और अपने को विपत्तियोंमे जानबूझकर डालें तो उससे तो आकुलता न मिटेगी । उसको नियमसे मुक्ति प्राप्त होगी जिसके चित्तमे इस अचल चैतन्यस्वरूप अतस्तत्त्वमें अचल श्रद्धा है । मैं केवल ज्ञानमात्र हूं—ऐसी श्रद्धा है तो ऐसी श्रद्धामे मुक्ति नियमसे होने वाली है किन्तु जिसको अपने आत्मस्वरूपकी भावना ही नहीं है, जिसको जो कुछ बतावो वैसा ही मान ले या अपने मनसे इस शरीरको ही निहार कर आत्मा मान ले तो ऐसे चलायमान चित्तमें मुक्तिकी बात सम्भव नहीं हो सकती है । इसलिए एक ही निर्णय है मुक्ति चाहते हो तो इस सहज चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति करो, और यदि इस आत्मस्वरूपकी धारणा नहीं हो सकती है, शरीरको आपा माने, घरके वैभवको अपना मान ले, मैं कुछ अपना नाम कर जाऊं, ऐसी भावना है तो मुक्ति नहीं हो सकती है, यह पूर्ण नियम है ।

एकै साधे सब सधे— एक इस आत्मतत्त्वको साध लीजिए तो समृद्ध हो जावोगे । एक इस अंतस्तत्त्वकी रुचि होने पर भी यदि अवशिष्ट रागवश बंध होता है तो पुण्यबंध होता है जिसके उदय कालमें सर्व वैभव आता है । जिसको इस अंतस्तत्त्वकी रुचि है उसके ऐसी विशुद्धता बढ़ती है कि भव भवके बांधे हुए कर्म भी क्षण मात्रमें एक साथ खिर जाया करते हैं । लौकिक आनन्द और पारलौकिक आनन्द इस सहज आत्मतत्त्वकी

दृष्टिमें भरा हुआ ही है। एक हिम्मतकी आवश्यकता है और हिम्मत भी कुछ नहीं, उल्टा जितना चल चुके हैं उतना लौटनेकी आवश्यकता है। करना कुछ नहीं है। जो खोटा कर्म किया है, जो खोटा कदम बढ़ाया है बस उतना लौटने की जरूरत है। इससे आगे और कुछ भी काम करना इसे आवश्यक नहीं है। यों समझो कि स्वतन्त्र निश्चल निष्काम आत्मतत्त्व के श्रद्धानमें, आचरणमें, सर्व प्रकारकी सिद्धि स्वयमेव पड़ी हुई है—ऐसा समझकर एक आत्मस्वरूपके जाननेकी रुचि करें, अभ्यास करें तो उस पुरुषार्थके प्रतापसे सर्वसमृद्धि हो सकती हैं।

मुक्तिका अपरनाम आत्मोपलब्धि— किसी भी तत्त्वका वर्णन विधि और निषेध इन रूपोंमें हो सकता है। इस प्रकरणमें मुक्तिकी बात कही जा रही है तो मुक्ति शब्द निषेधपरक शब्द है और आत्मोपलब्धि शब्द विधिपरक है। बात एक है चाहे आत्मोपलब्धि कहो, चाहे सर्वथा निर्लेप निष्कलक विशुद्ध विकास कहो या मुक्ति कहो। मुक्तिका अर्थ है छुटकारा पाना अर्थात् जो अन्य चीजें साथ लगी थीं उनका प्रतिषेध हो जाना, दूर हो जाना और आत्मोपलब्धिका अर्थ है जैसा सहज आत्मस्वरूप है वैसा विकसित हो जाना।

आत्मोपलब्धिका मार्ग— आत्मविकासरूप कार्यकी सिद्धि किस प्रकार होती है इस सम्बन्धमें एक मुख्य सूत्र है 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका एकत्व मोक्षका मार्ग है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है आत्माका यथार्थ विश्वास। सम्यग्ज्ञानका प्रयोजन है यथार्थ सहज आत्माका परिज्ञान और सम्यक्चारित्रका मतलब है ऐसे ही विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रम जाना। विश्वास, ज्ञान और चारित्र इन तीनों बिना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती है। लौकिक कार्योंको ढूँढ लो, जैसे रसोई बनाना है तो रसोई बनानेकी बात भी विश्वास, ज्ञान और आचरण बिना नहीं हो सकती है। विश्वास है कि इस तरह रसोई बन जायेगी और ज्ञान है कि इस विधिसे इस चीजसे रोटी बनती है। जो विधि उसे ज्ञात है वैसा कर लेगा तो रोटी बन जायेगी। किसी को ऐसी शंका तो नहीं होती कि आज आटेसे रोटी बनेगी अथवा न बनेगी। कोई यह तो नहीं सोचता कि आज कहो रेतसे रोटी बन जाये। तो श्रद्धान् बिना कार्य की सफलता हो ही नहीं सकती।

यथार्थके अविश्वासमें यथार्थकी असिद्धि— एक ठाकुर साहब एक जगह बैठे हुए थे। उनके पास एक बनिया भी बैठा था। बंदूक लिए हुए थे ठाकुर साहब। बनियाकी तरफ बंदूकका कुन्दा था और उसकी नली

दूसरी तरफ थी, जिस ओर कोई भी न बैठा था। वह बनिया बोलता है कि ठाकुर साहब यह बन्दूक अलग रख दीजिये। ठाकुर साहबने कहा क्यों? बनियेने कहा कि कहीं ऐसा न हो कि गोली निकल भागे। ठाकुर साहब बोले कि तुम्हारी तरफ तो बन्दूककी नली भी नहीं है, फिर गोली कैसे निकल भागेगी? बनियेने कहा कि सौ बार नलीसे गोली निकल जाती है, कहीं एक बार इस कुन्देसे गोली निकल भागे तो। सो आप इसे अलग ही रख दीजिये। तो इस प्रकारके भी अविश्वासी पुरुष होते हैं। ऐसी ही तो कोई अविश्वासी महिला हो तो क्या रसोई बना सकती है? आटा भी धर दे, विश्वास भी हो, पर उसकी विधियोंका ज्ञान न हो तो चीज कैसे बन सकती है? ज्ञान भी हो, करे कुछ नहीं और देखती रहे तो क्या रोटी बन जायेगी?

विश्वास, ज्ञान व आचरणके बिना लौकिक कार्यकी भी सिद्धिका अभाव— भैया, विश्वास, ज्ञान और आचरण बिना कोई लौकिक काम नहीं होता है। चाहे व्यापारका काम हो, उसमें भी विश्वास, ज्ञान और व्यापारविषयक आचरण चाहिये। पापका काम करना हो तो उसमें भी पापका विश्वास, ज्ञान और वैसी ही कोशिश होनी चाहिये। उसमें प्रवृत्ति हो जायेगी, पर वह है मिथ्या। भला ज्ञान करना हो तो भली बातमें भी विश्वास, ज्ञान, आचरण चाहिये। यदि आत्माकी उपलब्धि करना है तो उसका भी विश्वास, ज्ञान और आचरण चाहिये। जो स्वभावतः सहज जैसा है, वैसा जानना अति आवश्यक है, क्योंकि मुक्ति होने पर हम क्या रह जायेंगे, इसका ही पता न हो तो मुक्तिका उद्यम ही क्या करेगा कोई? किसे छूटना है, किससे छूटना—यह कुछ पता ही न हो और बहुतसी बकवाद करता फिरे तो किसीकी भी तो मुक्ति नहीं हो सकती है। ऐसे ही यथार्थज्ञान बिना भी मुक्ति नहीं हो सकती है और आचरण बिना भी मुक्ति नहीं हो सकती।

यथार्थ विश्वास व ज्ञानके बिना आचरणसे कार्यसिद्धिका अभाव— मान लो, न विश्वास है, न सही। वस्तुका ज्ञान है और आचरण भी कर लिया जाये तो उससे कार्यकी सिद्धि नहीं होती है। जैसे एक पुरानी घटना सुनते आये हैं कि किसी समय ललितपुरमें उधारका बड़ा व्यापार चलता था और कहावत भी प्रसिद्ध है कि "झांसी गलेकी फांसी, दतिया गलेका हार। ललितपुर तब तक न छोड़ो, जब तक मिले उधार।" सो कुछ देहातों के बजाज लोग ललितपुरके बाजारके लिये चले जा रहे थे। जाड़ेके दिन थे। जंगलमें शाम हो गयी और वहीं ठहर गये। वहां ठण्ड लगी तो चारों

तरफसे जरेठा बाड़ आदि बीनकर ले आए और एकत्रित कर चकमकसे आग जलाकर आगमें जरेठा बाड़ आदि डाल दी, फिर उसमें फूंक मार कर वहीं हाथ पैर पसारकर बैठ गये। रातभर उन्होंने तापा और सुबह चले दिये। ये सारे काम उस पेड़ पर चढ़े हुए बन्दर देख रहे थे। अब दूसरी रात आई तो बन्दरोंने सोचा कि इन ने ही हमारे आपके जैसे हाथ पैर उन मनुष्योंके भी थे, उन्होंने जैसे जाड़ा मिटा लिया था, वही काम अपन भी करें तो अपन लोग भी जाड़ा मिटा सकेंगे। बन्दर तो बड़े ही फुर्तीले होते हैं, सो दौड़ दौड़कर इधर-उधरसे खूब जरेठे बाड़ आदि एकत्रित कर ली।

भैया! अब भी जाड़ा न मिटा तो उनमें एक बन्दर बोला कि ऐसे जाड़ा कैसे मिटे? अभी तो इसमें लाल लाल चीज तो डाली ही नहीं। लाल-लाल चीज लानेके लिये उसकी खोजमें चले। वहां बहुतसे पटबीजने उड़ रहे थे, उन्होंने कुछ पटबीजने पकड़कर उस ढेरमें डाल दिये। इतने पर भी जाड़ा न मिटा तो एक बन्दर बोला कि उन लोगोंने उसे मुखसे फूंका भी था। बिना इसके फूंके जाड़ा कैसे मिटे? सब बन्दरोंने फूंका भी, पर जाड़ा न मिटा। एक बन्दर बोला कि अरे बेवकूफो! जाड़ा ऐसे कैसे मिटेगा? वे मनुष्य तो हाथ पैर फैलाकर यों बैठे भी थे। इन्होंने ऐसा भी किया, पर जाड़ा न मिटा। तो यों आचरण तो सब कर लिये, पर ठण्ड न मिटी। यों ही समझो कि जिन्हें आत्मतत्त्वका परिचय नहीं हुआ है और देखे दिखाये अथवा बड़े पुरुषों द्वारा सुने हुए की अभिरुचिसे धर्मके नाम पर सब कुछ भी कर डालें, जैसे कि बड़े पुरुष किया करते हैं, इसी प्रकार यदि हम आप तप, व्रत, संयम और परित्याग आदि बातें भी कर डालें तो भी अन्तस्तत्त्वके परिचयके बिना मुक्तिका मार्ग कहांसे प्राप्त होगा?

**अन्तस्तत्त्वके अपरिचयसे क्लेशोंका विस्तार**— भैया! जिसे निज सहजअन्तस्तत्त्वका परिचय है, वे पुरुष गृहस्थावस्थामें भी रहते हुए अपने पदके अनुकूल शान्तिके मार्ग पर चल रहे हैं। मोक्षका मार्ग कहो अथवा शान्तिका मार्ग कहो। कहां है अशान्ति सम्यग्ज्ञानमें? कोई विकल्प हो, कष्ट हो, यदि ऐसी दृष्टि हो जाये कि मैं आत्मा तो ज्ञानमात्र हूं, इससे आगे मेरा कुछ नहीं है। तो वहां संकट कहां रहेगा? संकट तो यह मुफ्तमें मोल लिये हुए हैं। वास्तवमें बात कुछ और है, मिथ्याधारणा, विकल्प, अहंकार व ममकार जो बनाये हैं, उनके कारण क्लेश हैं और फिर इनका विस्तार क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—ये सब भी

अहंकार और ममकारके विस्तार हैं। सो इन चक्रोंमें भी फंसना पड़ता है। किसीका भी तो गुजारा इस प्रकारकी सच्ची बातकी परख बिना नहीं चल सकता।

शान्तिकी प्राप्तिका एक ढंग— साधु हो तो क्या? गृहस्थ हो तो क्या? सुख-दु:खका ढंग सबका एकसा है और आनन्द पानेका ढंग भी एकसा है। जैसे सभी जातियां भिन्न-भिन्न हैं— हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, जैन, पर यह तो बताओ कि उत्पन्न होने और मरने का ढंग भी जुदा-जुदा है क्या? ऐसा तो नहीं है। मूलमें देखो तो सबमे एकसी बातें गुजरती हैं। ऐसे ही संसार और मुक्तिका भी यह सब उत्तर है। शान्ति और संतोषका भी यही उत्तर है। शान्तिका मार्ग केवल एक यही है, जैसा कि यह आत्मा अपने आप परमार्थस्वरूप है, उसकी झलक हो जाये और इतना ही मात्र मैं हूं—ऐसा विश्वास बन जाये तो शान्ति का मार्ग मिलेगा। गृहस्थको भी यह चाहिये, साधुको भी यह चाहिये, इसके बिना शांति किसी को नहीं मिल सकती है। इससे इस अचलआत्माका अचलविश्वास होना चाहिये, इससे ही मुक्तिका मार्ग है।

हितमार्गगमनका अनुरोध— भैया! इस आत्माका यथार्थ विश्वास न हो, अपने स्वरूप पर दृष्टि कम हो, व्यर्थके मोहके कचड़ेमे अमूल्यजीवन गँवा दिया तो भविष्यकालमें दुर्गति ही होगी। क्या बीतेगा? सोच लो, वही बात इसके फलमें पाता रहेगा। सो अमूल्यजीवनमे लाभ पाना है तो अपना आचरण सत्य बनाओ। धन जोड़ना, सम्पदाके पीछे अपना ईमान खोना, दूसरों पर अन्याय करने का भाव करना और अपनेको सुखी समझ कर, बड़ा समझकर अपनेको स्वच्छन्द बनाना आदिसे तो केवल दुर्गति ही मिलेगी। परिग्रहसे दूर रहो, कुशीलसे दूर रहो, अहिंसाका आदर करते हुए, अपनी उपासनाका परिणाम रखते हुए सदाचारसे रहें तो जो उत्तम संस्कार पा लिया जायेगा, वह साथ जायेगा। दुराचारसे रहें तो खोटी वासना प्राप्त होगी और खोटा संस्कार प्राप्त होगा, वह खोटा संस्कार साथ जायेगा। इसलिये बड़े चेतकी जरूरत है। विवेककी ऐसी भावना करने वाले पुरुषका जन्म सफल है।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥७२॥

ज्ञानयोगकी सिद्धिके लिये जनसंसर्गका निषेध— पूर्व श्लोकमें यह कहा गया था कि जिस पुरुषके निजआत्मतत्त्वको अचलस्वरूपकी अचल धारणा रहती है, उसको मुक्ति होती है। उस अचलस्वरूपकी अचलधारणा

फँसे हो ? इस सबन्धमें एक उपाय बताया जा रहा है कि जो योगीपुरुष आत्मस्वरूपका अचल अवलोकन करता है, उसे मनुष्योंके साथ सम्पर्कको छोड़ना चाहिये और संसर्ग न छूट सके, हो कोई स्थिति तो मनुष्योंके संबन्धसे रहित समस्त परपदार्थोंके सम्पर्कसे रहित ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको निरखकर यह अनुभवना चाहिये। इसका किसीके साथ कुछ भी संबन्ध नहीं है।

जनसंसर्गपरिहारकी आवश्यकता— जनसम्पर्कका त्याग इसलिए किया जाता है कि यदि मनुष्योंका सम्बन्ध रहता है तो वचनालाप भी कुछ करना पड़ता है, जहां वचनोंका आदान-प्रदान हो, वहां फिर मनमें व्यग्रता होने लगती है। मनमें, चित्तमें अनेक प्रकारके विकल्प क्षोभ उठने लगते हैं। जहां क्षोभ है, वहां शान्ति कहां है ? यह संसार विकट गोरखधंधा है। मोहके उदयमें इस प्राणीको सम्पर्क बढ़ानेकी ही सूझती है। चेतन अथवा अचेतन पदार्थोंका संचय जितना अधिक हो, उतना ही तो मेरा भी बड़प्पन है, उससे ही मुझे ये सारे सुख प्राप्त होंगे। इस प्रकारकी भ्रमपूर्ण धारणा बनी हुई है, इन भ्रान्त धारणाओंके विषयभूत जनससर्ग के परिहारमें ही आत्मकल्याण है।

मायामयोंमें व्यवहार— यह ससार है क्या ? मोह नींदके स्वप्नमें देखा जाने वाला दृश्य है। कुछ भी यथार्थ नहीं है। जो पुरुष इस लोकमें अपना बड़प्पन चाहते हैं, अपनी कीर्ति चाहते हैं तो प्रथम तो वह पुरुष ही अनित्य है, मायामय है और जो पुरुष बड़प्पन चाहते हैं, वे पुरुष भी तो मायामय हैं, अनित्य हैं और जो बड़प्पन चाहा जा रहा है, वह बड़प्पन भी मायामय है, अनित्य है और उसकी चाहरूपी तरंग भी मायामय है, अनित्य है। देखो तो कैसा विकट अचम्भा घट रहा है कि यह मायामय अनित्य पुरुष मायामय अनित्यपुरुषोंमें, मायामय अनित्य कल्पित बड़प्पन की मायामय अनित्य चाह कर रहा है। कुछ भी तो सार नहीं है, लेकिन जिसको अपने अपरिणामी शाश्वत ज्ञानानन्दस्वरूप कारणपरमात्मतत्त्वकी सुध नहीं है, उसे ये पञ्चेन्द्रियके विषयोंके साधन और मनके विषयोंके साधन महान् लगेंगे और जहां इतनी तृष्णा बनी, फिर वहां शान्ति समाप्त हुई है।

कामनारोग व उसके चिकित्सक— भैया ! कामना रोगके रोगी सभी संसारी जीव हैं, इसलिये इस रोगकी आलोचना समालोचना नहीं हो पा रही है। सभी उस मोहमें डूबे हुए हैं। मोही मोहियोंमें दोष कहां देख सकते हैं ? इसी कारण यह सारा मानवसंसार धन परिग्रह, नेतृत्व इनके

बढ़ानेकी होड़में लग रहा है, किन्तु अपने पुराणपुरुषोंकी नीतिको तो देखो कि चक्रीसे भी महान् वैभवशाली महापुरुषोंने भी आखिर उस सब वैभव को त्यागकर जब अपने आपको आकिञ्चन्यरूपमें देखा, तब शान्ति पाई।

लौकिक जनसम्पर्ककी कल्याणबाधकता—यह जनसम्पर्क आत्मयोग के अभ्यासमें बाधक है। यह ज्ञान ज्ञानरूप रहे, शुद्ध आनन्दका भोक्ता रहे, इसमें बाधा देने वाला निमित्तरूपमें यह जनसम्पर्क है। जो आत्मस्वरूपमें स्थिरताकी चाह रखते हैं, उन्हें चाहिये कि वे लौकिक जनोंके संसर्गसे अपनेको प्रायः अलग रक्खे। जो पुरुष लौकिकतासे परे हैं, संसार, शरीर और भोगसे विरक्त हैं, आत्मकल्याणके इच्छुक हैं—ऐसे पुरुषोंका संसर्ग तो इनके कल्याणमें कदाचित् साधक है, पर जो मोहीपुरुष हैं, लौकिक जन हैं, अज्ञानअन्धकारमें भूले भटके हुए हैं, एक इस दृश्यमान् मायामय पर्यायको ही जो यथार्थ सर्वस्व समझते हैं—ऐसे पुरुषोंका संसर्ग तो क्षोभ का ही कारण होता है।

मोहियोंके संगका दुष्प्रभाव—आजकल प्रायः लोगोंमें धर्मकी उत्सुकता क्यों नहीं जगती है? इसका कारण यह है कि कुछ थोड़ा सोनेका समय और एक आध घण्टा व्यवहारधर्मकी चर्चाको छोड़कर शेष रात-दिन सर्वसमय मोहियोंके संसर्गमें ही लोग रहा करते हैं। दूकानपर बैठे तो वहां भी मोहियोका झमेला है। रात दिन मोहियोंका ही संसर्ग बना रहता है। एक आध घण्टा मन्दिरमें, स्वाध्यायमें अथवा व्याख्यान आदि सुनने में समय लगा भी तो यह आध घण्टेका समय क्या प्रभाव डालेगा? जब सारा ससंग इतना दूषित है तो यह थोड़ासा सत्संग प्रभावहीन हो जाता है। इससे इस ओर दृष्टि देना चाहिये कि कि हमारा सत्संग निवास तो बढ़े और लौकिक जनोंका संसर्ग कम हो। यदि ऐसा पुरुषार्थ किया, दृष्टि बनाई तो क्रमसे धीरे धीरे शान्तिका विकास हो जायेगा अन्यथा वही अशान्ति है।

लौकिक जनसम्पर्क व वाग्व्यवहारसे विपत्ति—लौकिकजन जहां भी एकत्रित हुए हों, वहां परस्परमें कुछ न कुछ वाक् जंजाल लगता ही है। कभी मौनपूर्वक बैठनेके लिये लौकिक जनोंका सङ्ग नहीं हुआ करता है। वह बोलना अनाप-सनाप सरलतारहित मजाक और पीड़ाकारी वर्तावोंसे भरा हुआ, दूसरोंको तुच्छताकी निगाहसे देखता हुआ वचनालाप हुआ करता है। जहां ऐसा वचनालाप हो, वहां अवश्य ही मनमें स्पन्द होता है। जो ज्यादा बोलनेकी आदत रखते है, उनके आत्मबल संतुलित नहीं रह

पाता है और ज्यादा बोलनेमें कोई बात कुछ सीमासे हल्की बन गयी तो उसका पश्चाताप रहता है। कोई बात व्यर्थकी निकल गयी तो उसका अनुताप होता है। अधिक बोलनेकी आदत हमारे जीवनके सुधारके लिए नहीं होती है।

वाग्व्यवहारमें सावधानी-- भैया ! प्रयोजनवश ही बोलना चाहिये और वह बोलना भी हित मित प्रिय हो। इस बोलको ही लोग कहते हैं फूल झड़ते हैं और इस बोलने को ही लोग कहते हैं कि बाण निकलते हैं। नीतिकार कहता है कि अधिक शीतल वस्तु क्या है तो बहुतसी वस्तुवें बतायी गयीं। चंदन है, नदीका जल है, कुवेका जल है अथवा किसी हिम-गर्भ गृहके भीतर बैठ जावो तो वहां शीतलता मिलती है और नीतिकार कहता है कि सत पुरुषोंके वचन इतने शीतल होते हैं कि वे हार्दिक संताप को दूर कर देते हैं। इन बाह्य शीतल पुद्गल स्कंधोंमें यह सामर्थ्य नहीं है कि किसीके हार्दिक संतापको दूर कर दें। किसी पुरुषको लाख पचास हजारका कहीं टोटा पड़ गया हो, वड़ी स्थितिका हो तो उसके मनमें बड़ा संताप बना रहता है। उसका मन ठिकाने नहीं रहता है। हार्ट पर भी आक्रमण हो जाता है, ऐसी स्थितिमें बाहरी पदार्थ क्या करें ? कोई पुरुष धैर्यकी बात कहे, और उसके लाभके उपायकी बात कहे और कुछ ऐसा उपाय लगा भी दे तो चित्तमें शांति आयेगी तथा संताप मिटेगा। वचन हार्दिक संतापको भी दूर कर देते हैं। ऐसे वचन तब निकाले जा सकेंगे जब वचनोंपर संयम होगा। कम बोलने, विचार कर बोलने, प्रयोजक बोलनेकी जहां वृत्ति बनेगी, वहां उसका बोलना हित, मित, प्रिय निकल सकेगा।

लौकिक जन सम्भाषण प्रतिषेधवचन-- जो परमयोगी पुरुष हैं, जिनको केवल अपने ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति रहने रूप अमृतके पानसे ही प्रयोजन है, जिन्होंने अपने अंतस्तत्त्वमें निर्विकल्प सामान्यस्वरूप प्रतिभास-स्वरूप आत्मतत्त्वका दर्शन किया है ऐसे पुरुषका तो यह यत्न होता है कि लौकिकजनोंका संसर्ग छोड़ें। लौकिक जनोंके साथ सम्भाषण करनेको भी आत्मतत्त्वके साधकके लिए सिद्धान्तमें मना किया गया है। प्रवचनसारमें जहां चारित्रकी अंतिम गाथा है वहां यह शिक्षा दी गयी है कि लौकिक पुरुषोंका संसर्ग न करना चाहिए। कदाचित् कोई साधु किसी रोगादिक उपद्रवसे उपद्रुत हों, ऐसी स्थितिमें उनके धर्मके वत्सल साधु उपद्रुत साधु की वैयावृत्यके प्रयोजनसे लौकिक पुरुषोंका संसर्ग कर सकते हैं, पर प्राय: लौकिक जनों का संसर्ग नहीं होता है। लौकिक जनोंका मतलब है जो

विषय वासनावोंमें रत हैं जिनका मोह ही एक उद्देश्य है, जिन्हें अपने आगे पीछेका कुछ पता नहीं है, अपने स्वरूपका भान नहीं है ऐसे विषय कषायोंमें लीन पुरुषोंको लौकिक जन कहते हैं। इन लौकिक जनोंके साथ संसर्गको यह योगी छोड़े तो उसको कल्याणका मार्ग मिलता है।

लौकिक जनसम्पर्ककी उत्सुकताके परिणाम— जरा सपर्कके विषयमें कल्पना कीजिए—क्या बनना चाहते हो ? क्या दुनियामें लखपति करोड़पति बनना चाहते हो ? कुछ भी बन लो पर यहां पर हृदयमें शांति मिलेगी क्या ? अरे जितने बड़े ऊँचे बन जावोगे कदाचित् पतन हो गया तो उतना ही अधिक विषाद होगा। मानो कोई प्रधानमंत्री हो गया और लोगोंने अविश्वास करके या किसी प्रकार उसे पदच्युत कर दिया तो उसके चित्त से पूछो तो वह तो मुहल्लेमें निकलनेमें भी सकुचाता है। लो देख लीजिए कल्पित बड़प्पनमें उसकी क्या हालत हो रही है ? यह तो बड़प्पनकी बात नहीं है। बड़प्पनकी बात तो यह है कि हम अपने आपको आकिञ्चन्य केवल ज्ञानानन्दस्वरूप जैसा मैं अपने स्वरूपास्तित्वमें हूं वैसा ही अपने को देखें। सरल सात्त्विक वृत्तिमें ही शान्तिका मार्ग मिलता है।

सात्त्विक रहनका शान्ति संतोषमें सहयोग— बुन्देलखण्डमें झांसी जिलेमें एक कटेरा नामका ग्राम है। उसमें पहिले एक जैन रहता था, वह राजमान्य भी था। राजा उसका बड़ा आदर करता था, उसकी बड़ी हैसियत भी थी किन्तु उसकी चर्या क्या थी—गुड़, नोन, तम्बाकूकी गठरी लेकर एक घंटा गांवमें घूमना और उसे बेचना, यह उसका प्रतिदिन एक घंटेका प्रोग्राम था। बादमें सारा लेनदेनका काम करे, बहुत बड़ी जायदाद थी, सारी सम्पदाको सभाले। उसकी हैसियत इतनी थी कि राजा उसका आदर करता था। कुछ लोगोंने पूछा कि सेठ जी तुम एक घंटा गुड़ नोन तम्बाकू गांवमें बेचनेका काम क्यों करते हो ? तो उसका उत्तर था कि आज हम बड़े हैं दुनियामें लोगोंकी दृष्टिमें, आज हम राव राजा कहलाते हैं, अच्छी हैसियत है, कदाचित् पुण्यका उदय विघटकर खोटा उदय आ जाय तो हमें दुःख तो न होगा फिर नमक गुड़ तम्बाकू बेचनेमें। यह एक लौकिक बात है, अपने आपको शांति और संतोषमें बनाए रहने के लिये और परमार्थतः तो यह बात बिल्कुल यथार्थ है कि अपने आपको परसे विविक्त माना जाय। इसीसे शांतिका मार्ग मिल सकता है।

मैं मैं तू तू का परिणाम— जो बाहरमें मैं मैं तू तू मेरा मेरा करता है उसको तो अशांति ही होगी। छात्रावस्थामें एक माधुरी पत्रमें कथानक पढ़ी थी कि एक राम लड़का था, वह बड़ा ...

रसगुल्ले लिए चले जा रहा था, रास्तेमें एक धोबी कपड़े धोता हुआ मिला। उस लड़के ने धोबीके लडके को रसगुल्ला खिला दिया। अब तो वह लड़का और भी रसगुल्ले खानेके लिए मचल गया। धोबी ने पूछा--भाई तुमने इसे क्या खिला दिया? उसने कहा रसगुल्ले। ये रसगुल्ले कहां मिलेंगे? अरे यह जो बाग है ना उसमें चले जावो, चाहे जितने तोड़ लाओ। तो धोबी बोला तुम्हारा नाम क्या है? लडके ने कहा मेरा नाम है कलपरसों। अच्छा भाई! कलपरसा मेरे ये कपड़े देखते रहना, मैं थोडेसे रसगुल्ले उस बगीचे से तोड लाऊँ। वह तो चला गया बगीचेमें और वह लडका अच्छे कपड़े पहिनकर और अच्छे-अच्छे कपड़े लेकर चम्पत हो गया। जब धोबी लौटकर आया तो चिल्लाने लगा कि अरे भाइयों कलपरसों मेरे कपडे ले गया। लोगोंने सुना तो कहा अरे कलपरसों कोई कपड़े ले गया तो आज क्यों रोता है, आज रोने से क्या फायदा है? वह लडका आगे बढता चला गया, आगे। रास्तेमें उसे एक घोड़े वाला मिला। उसके पास लोटा डोर थी। घोडे वाले ने कहा यह लोटा डोर मुझे दे दो प्यास लगी है, मेरा घोड़ा पकड़लो, मैं उस कुवेंसे पानी पी आऊँ। अच्छा भाई! तुम्हारा नाम क्या है? उस लड़के ने कहा कि मेरा नाम है कर्ज देनेमें। घोड़ा उस लड़केको पकड़ा कर घोड़ेवाला पानी पीने चला गया। उस लडके ने क्या किया कि घोडे पर बैठकर उसे उड़ा ले गया। अब वह आकर रोता है, चिल्लाता है—अरे भाई कर्जदेनेमें मेरा घोड़ा ले गया। लोगों ने कहा--अरे भाई कर्ज देनेमें घोड़ा ले गया तो क्या बेजा किया?

वह लड़का एक शहरके किनारे पहुचा, एक धुनियाके घरमें पहुचा। धुनेनीसे कहा मा मुझे रात भर ठहर जाने दो। उसने कहा ठहर जावो भाई। तुम्हारा नाम क्या है? मेरा नाम है तू ही तो था। धुनिया गया था परदेश। लड़केने क्या किया कि बनियाके घरसे घी, आटा, दाल आदि उधार ले आया। अच्छे कपड़े तो पहिने ही था। कहा कि सुबह आपके पैसे चुका देंगे। बनियाने पूछा, अच्छा भाई तुम्हारा नाम क्या है? मेरा नाम है मैं था। उस लड़के ने रातको खाना बनाया और खा पीकर दाल का धोवन धुनियाकी रुईमें डालकर सुबह चला गया। जब धुनिया आया तो देखा कि सारी रुई भीगी हुई है। पूछा कि रातको यहां कौन ठहरा था? स्त्री बोली कि तू ही तो था। अरे ठीक-ठीक बोल। हां वह तू ही तो था। धुनियाको गुस्सा आया, सो पीटने लगा। बनियाने देखा कि धुनिया अपनी स्त्रीको पीट रहा है तो उसे दया आयी। बोला अरे इसे मत पीटो, जो रातको ठहरा था वह तो मैं था। तो उस धुनियाने उस बनिये को

पीटा। तो इस मायामयी दुनियामें जो मै मैं, मेरा मेरा करता है, उसे सिवाय रंज, शोकके डंडोंके और कुछ न मिलेगा।

यथार्थ अवगमसे संतापका अभाव— भैया! सर्वसमागम तो छोड़ कर जाना है और इन समागमोंसे चिपका हुआ मन बनाया जा रहा है। झूठी बातमें शान्ति कैसे हो सकती है? मिथ्याको अपना रहे हैं। जब तक सम्यग्ज्ञानका प्रकाश न होगा तब तक आनन्दका रास्ता नहीं मिल सकता। सबको जरूरत है सम्यग्ज्ञानके प्रकाशकी। चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, चाहे सर्विस वाला हो, चाहे व्यापार वाला हो, कोई भी पुरुष हो, प्रत्येक पुरुषको यदि शान्ति चाहिए तो सम्यग्ज्ञानके प्रकाशकी आवश्यकता प्रथम है। जिनको आज अपना मान रहे हो वे सदा रहनेको नहीं हैं। जब वे न रहेंगे तो दुःखी होवेंगे ही। यदि सही मान्यता हो तो दुःख न होगा। जो समागम मिला है उसे यदि पहिले से जानते रहें कि ये सब विनाशीक है, भिन्न हैं, मिटेंगे तो मिट जाने पर भी क्लेश नहीं होता है, क्योंकि वह समझ रहा है कि यह तो मैं पहिले से ही जानता था। जो जानता था सो ही तो हुआ। अनहोनी तो कुछ नहीं हुई। जब यह जीव मनके प्रतिकूल अनहोनीकी बात समझता है तब इसे क्लेश होता है।

स्वरूपदर्शनके पथमें— मुख्यतया तो यह उपदेश है कि जनसम्पर्क सर्वथा छोड़ो और लौकिक जनोंका सम्पर्क छोड़ो। रहना पड़े लौकिक सम्पर्कमें तो इतना तो अपने स्वरूपको निरखो कि मेरा स्वरूप लौकिक सम्पर्कसे रहित विशुद्ध ज्ञानानन्दमात्र है। परमार्थ आत्मस्वरूपकी कुछ भी निगाह यदि नहीं रह सकती तो फिर शांतिकी चर्चा करना बिल्कुल व्यर्थ है। जानमानकर जब हम स्वयं आगमें कूद रहे हैं और वहां चाहें कि मुझे शीतलता मिल जाय तो कैसे मिल सकती है? जब हम संकल्प विकल्पसे अपने को अधीर बना रहे हैं और चाहें कि वहां शांति मिले तो यह कैसे हो सकता है, और संकल्प विकल्पसे रहित केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अपने आपकी झलक तो कर लीजिए। अंतरंगमें उसका यथार्थ श्रद्धान् रहे, यदि श्रद्धाबल हमारा सही है तो हम कभी शांतिके मार्ग में भली प्रकार सफल हो जायेंगे। यदि ज्ञानप्रकाश नहीं है तो जैसे अभी तक अनादिसे दुःखमें पड़े आये हैं वैसा ही दुःख मिलेगा, कभी उन्नतिकी बात न मिलेगी।

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

अनात्मदर्शीका निवासदर्शन— जो आत्मा अनात्मदर्शी हैं, जिन्हें

आत्माका दर्शन अनुभवन नहीं हुआ है--ऐसे पुरुषकी दृष्टिमें गांव तो गांव है और जंगल जगल ही है अर्थात् यह गांव है, यह जंगल है—ऐसे दो तरहके निवासकी कल्पनायें होती हैं, किन्तु जिसने आत्मस्वरूपदर्शन अनुभवन किया है-ऐसे पुरुषके लिये रागादिक रहित शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप निश्चलआत्मस्वरूप रहनेका स्थान है। जिन्हें स्वयंकेस्वरूपका परिचय नहीं, वे बाहर अपना निवासस्थान मानते हैं। उनकी दृष्टिमें ये अमुक ग्रामवासी लोग हैं, ये सब नगरवासी लोग हैं, ये सब वनवासी लोग हैं—इस प्रकार के बाहरी स्थानोंके भेदसे ही निवासका भेद मान लिया है और इस प्रकार का सोचते हैं कि मेरा इस अमुक मकानमें निवासस्थान है। मैं तो अमुक के घरमें रहता हूं, यह भी तो मिथ्याकल्पना है। यह भी अनात्मदर्शियोंकी बात है। वस्तुतः तो मैं विविक्त आत्मतत्त्वमें रहता हूं, अपने आत्मामें ही रहता हूं।

**आत्माका निवासक्षेत्र व परिजन**— भैया! किसीसे पूछो कि ऐ भाई! आप कहां रहते हैं? वह उत्तर दे कि हम अपने आत्मामें रहते हैं। यह सही उत्तर है, पर सुनने वालेको सतोष न होगा। सही बात यह है कि आप कहां रहते हैं? हम अपने आत्मामें रहते हैं। तुम्हारे कुटुम्बमें कितने लोग हैं? मेरे कुटुम्बमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र अनेक गुण बताते जाइये। वे मेरे कुटुम्बके हैं और तुम्हारे रिश्तेदार कहा कहा हैं? हमारे रिश्तेदार--कहीं हलकी रिश्तेदारी है, कहीं खोटी रिश्तेदारी है, कहीं बड़ी रिश्तेदारी है, हम कौनसी रिश्तेदारी बतायें। अरे आखिर बताओ तो। हमारी तो सब पर्यायोंसे रिश्तेदारी है। गति, इन्द्रिय, काय, योग—ये सभी के सभी हमारे रिश्तेदार हैं। कभी बनते हैं, कभी बिगड़ते हैं। इनसे खोटी रिश्तेदारियां भी हैं व भली रिश्तेदारी भी हैं। जैसे गतिरहित, इन्द्रियरहित योगरहित, वेदरहित, कषायरहित—ये भली रिश्तेदारियां हैं। तुम्हारा घर कहां है? हमारा घर हमारे आत्माके प्रदेशमें है। उत्तर देने वाला बड़ा ही अजीबसा है। अरे वह सही उत्तर दे रहा है। इसके विरुद्ध जो उत्तर देने वाला है, वह गलत है।

**यथार्थ उत्तरमें जनसामान्यका परितोष**— आप कहां रहते हैं? हम साहब अमुक नम्बरकी हवेलीमें रहते हैं। अरे कहा हवेलीमें निवास है? देहमें रहता हू, इतना भी कह देता तो भी आधाफादा ठीक उत्तर था। अरे भैया! वह उत्तर तो बताओ कि अनजान आदमी भी सुने तो अर्थ समझ जाये। कोई अपरिचित आदमी इङ्गलैण्ड, अमेरिकाका आये और वह भी आपकी बातको समझ जाये, वह सही उत्तर होगा। आपने कह दिया कि

मैं अमुक हवेलीमे रहता हूं, दूसरा तो इस बातको न समझ सकेगा। आप कहेंगे कि मै इस देहमें रहता हूं तो वह अपरिचित भी समझ जायेगा कि यह ठीक कह रहा है। आप कहेंगे कि मेरे ५, ७ ये मकान हैं। अपरिचित तो न समझ सकेगा। यह मकान किसका है? यह अमुक चन्दका मकान है। उस मकानको नीचेसे देखा, ऊपरसे देखा, किवाड़ों पर देखा, मगर पता तो नहीं चलता कि यह मकान अमुक चन्दका है। जो पड़ौसके लोग हैं, उन्हें मालूम है, वे जानते हैं, पर कोई दूसरा भी समझ जाये. यह बात पक्की है, यह तो मनमानी बात है। ये साहब अमुकके मामा हैं, अपरिचित तो न समझेगा। हां यह इतने लम्बे हैं, सावले हैं, काले हैं, यह बात कुछ कुछ समझ जायेगा दूसरा, पर ज्ञानियोंकी दुनियांमे तो यह भी बात प्रतिष्ठा नहीं पाती।

वस्तुतः मेरा निवासस्थान— अब देख लीजिए ऐसा निर्णय बनाना कि यह जंगलमें रहने वाला है, यह गांवका रहने वाला है, यह नगरका रहने वाला है, यह शहरका रहने वाला है। यह तो भेद ठीक नहीं बैठता है। अनात्मतत्त्वमें आत्मतत्त्वरूपसे स्वीकार कर ली जाने वाली दृष्टि अनात्मदर्शी पुरुषोंके होती है, किन्तु जिन्होंने आत्मस्वरूपको निरखा है, उनको निःशंक स्पष्ट ऐसा परिज्ञान है कि अन्य सर्वपदार्थोंसे सर्वपरभावोंसे भिन्न यह मेरा आत्मा ही मेरा निवास स्थान है। इस देहको भी छोड़ेंगे तो भी मेरा घर न छूटेगा। देह छूट जायेगा, देह पड़ा रह जायेगा, देहको लोग जला देंगे, पर मेरा घर मेरे साथ जायेगा। वह मेरा घर है मेरा स्वरूप, मेरा प्रदेश मेरा घर है। इस आत्मामें ही मेरा निवास है। ऐसी दृष्टि ज्ञानी पुरुषके होती है। जो लोग आत्मानुभवसे रहित हैं, उनका ही मनमें, वचनमे और कायमें ऐसा उद्यम रहता है कि उनका निवास स्थान गांवमें या जंगलमे होता है अर्थात् कोई गांवको अपनाता है तो कोई जंगलको अपनाता है तो कोई जंगलसे प्रेम रखता है, पर, वस्तुतः गांव बाह्यपदार्थ हैं और जंगल भी बाह्य पदार्थ हैं।

निवासस्थानविषयक औपचारिक उत्तर— भारतसे आप बाहर हों और कोई पूछे कि आप कहां रहते हैं? उत्तर दोगे कि हम भारतमें रहते हैं। तो भारत तो लाखों वर्ग मील क्षेत्र का होगा एक ओरसे दूसरी ओर तक। क्या आप इतनेमे फैलकर रहते हैं? जब भारतके किनारे पर आ जावोगे। कोई पूछेगा कि कहां रहते हो? आप बोलते हैं कि हम यू० पी० मे रहते हैं। आप यू० पी० भरमें फैले हैं क्या? यू० पी० मे आ गये तो पूछा जाये कि कहां रहते हो? तो उत्तर दोगे कि साहब हम इटावा जिलेमें

रहते हैं। आप इटावा जिलेभरमें फैले हैं क्या ? फिर इटावा जिलेमें आये तो पूछा कि कहां रहते हो ? तो कह दोगे कि जसवन्तनगरमें रहते हैं। अब और सीमित होते जावो। अमुक घरमें रहता हू और हुए तो इस शरीरमें रहता हूं, यह उत्तर सही नहीं बनता है, क्योंकि यह भी मूढ हो जाएगा। कभी शरीरको भी छोड़कर चल देंगे आप। कहां रहा शरीरका निवास ? तो सही उत्तर यह है कि हम अपने आत्मप्रदेशमें रहते हैं।

दृष्टिकी दिशामें— गांव जंगल दोनों ही बाह्यवस्तुएँ हैं। उनमें निवास की चर्चा करना यह अनात्मदर्शीका काम है। अब बताओ हाथ हाथ भर की जगह पर ४-६ अंगुलकी जमीन पर परस्परमें लड़ाई हो जाये, मुकदमे बाजी चल जाये, दोनों पार्टी बरबाद हो जायें, यह कितनी मूढता है ? अरे जमीन किसकी होती है ? देह भी अपना नहीं है तो अन्य चीजोंकी कथा ही क्या करना है और ऐसा ही प्रेम हो, कदाचित् कि हम जगलमें ही रहें, वहीं पर आत्मकल्याण होगा तो मात्र जगलका निवास किसीको कल्याणमय नहीं बना देता, आत्मदर्शी नहीं बना सकता। प्रत्युत जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, उनका निवास स्थान उन्हें स्पष्ट विदित है कि मेरा निवासक्षेत्र यह आत्मस्वरूप ही है।

भेदकथनकी एक आवश्यकता— मैं अलग और मेरा निवासभूत अलग हो तो है ही नहीं, फिर मेरा घर मैं हू, इसका मतलब क्या है ? मतलब तो कुछ नहीं है, पर जिन्हें समझाना है, वे भेद वाले हैं। वे इतने भेद में पहुंच गये हैं कि अपनेसे भिन्न देहको ही अपनाने से इतना भी नहीं, किन्तु गांव या जंगल भी अपना लिया है। उनको समझानेके लिये उनकी ही भाषामें यह समाधान है। हम कहां रहते हैं ? हम हम ही में रहते हैं। जिनको इस आत्मासे ही प्रयोजन हो—ऐसे मनुष्योंका समूह बैठा हो तो उनमें यह चर्चा देना भला लगेगा, पर पर्यायमोही पुरुषोंके बीचमें ऐसी बात कहें तो उसका कुछ अर्थ न निकलेगा। कोई न्यायालयमें पहुंच जाये और वहां जज यह बात पूछे कि तुम कहां पर रहते हो ? और वह उत्तर दे कि हम अपने आत्मामें रहते हैं तो वहां तो केवल यही एक फैसला है कि अब तुम जावो, मुकदमा खारिज। जहांकी भी गोष्ठी है, वहा वैसा ही चलता है तो चलो, उससे बिगाड़ नहीं है, किन्तु श्रद्धा यथार्थरूपमें बनी रहे।

व्यर्थका भ्रम— भैया ! व्यवहार ही जिन्हें परमार्थ बन गया, उनका बिगाड़ है। व्यवहार व्यवहारका रहे, परमार्थका भी अवगम बना रहे तो कुछ बुरा नहीं है, पर अनात्मदर्शी पुरुष तो श्रद्धा ही रख रहे हैं कि यह

मेरा घर है, मैं बस घरमे रहता हूं, मेरा यह निवासस्थल है और इसीके कारण थोड़ीसी जमीन पर कोई विवाद हो तो जरा भी नहीं छोड़ना चाहते हैं। यह जो एक आधारके प्रश्न पर उत्तर दिया गया है, पर अर्थ सभी अपने मे लगाते हैं। मेरा यह धन है, मेरा यह रुपया है, मेरा यह वैभव है, यह सब अनात्मदर्शियोंका मन्तव्य है, पर जो आत्मदर्शी है, उन्हें तो सब कुछ अपना आत्मा ही है। हम आपको कोई दु:ख नहीं है। दु:ख बना लिया है। भाई-भाईमें बटवारा हुआ, वहां इतनी कल्पना हुई कि इसे इतना ज्यादा हिस्सा मिला, इतना मुझे कम मिला, इसमे जरा अपने आपके स्वरूपको तो परखो कि जितना मिला, उससे भी आधा मिलता तो भी क्या बिगाड़ था ? जब ज्ञान जगेगा तो जो मिला मिलाया है, उसे भी तो त्याग करके जावेगा। न विवेक जगे, न जीवमे त्याग कर सके तो मरनेपर तो त्याग करके जावेगा ही।

व्यर्थका विकल्प— लोभी कन्जूस अनुदार पुरुषके स्वपरकी अन्याय भरी प्रवृत्तिके मुकाबलेमे यह तो संतोषकारक बात बनती है। कर लेने दो ६०, ५० वर्ष तक मनमानी, मक्खीचूसी, जब तक जिन्दा हैं। आखिर छोड़ जायेगा पूराका ही पूरा। ऐसा संतोष रहता दूसरोंको। तो क्या रहा अपना ? कौनसा संकट है ? कम धन हो गया तो क्या बिगड़ गया ? यहां कोई संकट नहीं है। मान्यताका संकट है। आज मानो २ लाखकी जायदाद है, उसमें से यदि दो हजार भी कम होते हैं तो क्लेश माना जाता है। बड़ी कठिन समस्या है। घाटा पड़ गया। यदि हम दो लाखके वैभव वाले शुरूसे न होते और होते ५०० रुपयेके वैभव वाले। ठेला चलाकर अथवा कुछ साधारण चीजका सिलसिला लगाकर पेट पालते तो क्या ऐसा हुआ नहीं जा सकता था ? कौनसा कष्ट आ गया ? आध्यात्मिक मच परकी बात कही जा रही है। आज क्लेश मान रहे हैं। दूसरे देश वाले यदि इस देश हड़प लें, कब्जा कर लें तो बड़ा अनर्थ होगा। हम शानसे कहां रहेंगे ? हमारा गुजारा कैसे चलेगा ? यदि मरके उसी देश वाले बन गये, जिसके अधिकारकी आशंका में बीमार हुए थे, अब वह जीव बड़ा खुश होगा। हमारा इतना विस्तार है।

आत्मदर्शीका निवास दर्शन— भैया ! कहां हैं कहीं पर संकट ? अपनी कल्पनाओंमें सङ्कटोंका विस्तार बना लिया जाता है और अपने ही विचारोंसे सङ्कटोंका संहार कर दिया जाता है। जो ज्ञाताद्रष्टा ज्ञानी सन्त पुरुष हैं, उनके बाह्यविषयक ये कल्पनाएं अड्डा रूप नहीं रख सकती हैं। उन्हें न तो ग्रामवाससे प्रेम है और न उन्हें जंगलके निवाससे प्रेम है,

क्योंकि वे दोनों ही स्थान अपने आत्मस्वरूपसे वाहरके स्थान हैं। ज्ञानी पुरुषको वाहरीक्षेत्रमें, वाहरीपदार्थोंमें, आसक्ति नहीं होती है, प्रीति नहीं होती है। वे किसी भी वाह्यक्षेत्रको अपना निवासस्थान नहीं मानते हैं। जिनको भेदविज्ञान जग गया है और इसी कारण अपने आत्मामें अनाकुलताका प्रसार होने लगा है, उन्हें तो कहां गांवका निवास व कहां जगलका निवास। उनकी कहीं भी आसक्ति नहीं रहती है।

परमार्थनिजनिवासके अदर्शनमें आत्मदर्शिताका अभाव—भैया, घर तक भी कोई त्याग दे और जंगलके निवासके स्नेह वढ़ा ले, कोई कुटिया उठाले या जिस शिलापर वैठकर ध्यान करते थे उस शिलापर मानों कोई धोवी ही अपने कपडे धोने लगे तो उनके चित्तमें विकल्प होने लगे, यह मेरा निवासस्थान है, यों शिलाको अपना ले व अन्य किसी प्रकार भले ही वह जगलमें जंगल जैसी ही सीनरी वनाये, जंगल जैसा ही वहा कुछ उपक्रम करे। फिर भी गांवमें रहकर जैसे ग्रामनिवासका स्नेह था, वैसे ही जंगलमें रहकर जंगलनिवासका स्नेह वनाया तो जो मिथ्यात्व पहिले था, वही मिथ्यात्व अव है। ज्ञानी पुरुष तो शुद्ध आत्मस्वरूपको ही अपनी विहार भूमि मानते हैं। कहां रहते हैं ? अपने विविक्त आत्मामें। कहां गमन करते हैं ? अपने विविक्त आत्मामें। वे मैं ही में सदा रमते हैं। किसी भी क्षेत्रमें हो, ज्ञानियोंका यत्न अपने आपमें अपने आपको ही देखनेमें रहा करता है। कहीं किसी क्षेत्रके निवासकेसे आत्मदर्शी नहीं वना जा सकता है, किन्तु अपने ही गुणपर्यायकी निरखसे आत्मदर्शी तो हो ही सकता है। इसी प्रकार से यह विविक्त निश्चल आत्मा तो केवल ज्ञानियोंका निवासस्थान है।

देहान्तरगतेर्वीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
वीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शीका निवासविषयक अभिमत—पूर्वके श्लोकमें यह वताया गया था कि जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, जिन्हें आत्मतत्त्व का परिचय नहीं हुआ है—ऐसे पुरुष अपने निवासके सम्बन्धमें ऐसा भेद डालते हैं कि मैं गांवमें रह रहा हू या जगलमें रह रहा हूं, किन्तु जिसने आत्मतत्त्वका मर्म समझा है, अनुभव किया है—ऐसे पुरुषके तो यही एक निश्चल धारणा है कि मेरा निवास तो इस विविक्त निजआत्मामें ही है। मैं अन्यत्र कहां रहता हू ? जैसे यह पूछा जाए कि वताओ यह चौकी किस में है तो एकत्वदृष्टि रखने वाले पुरुष यों कहेंगे कि यह चौकी मन्दिरमें है, यह चौकी आकाशमें है, परन्तु परमार्थस्वरूपको जानने वाले यह कहेंगे

कि चौकी चौकीमे है, न मन्दिरमें है, न आकाशमें है। यद्यपि व्यवहार-दृष्टिसे यह चौकी मन्दिरमें है, आकाशमे है, पर चौकीके ही स्वरूपको तो निरखकर यह उत्तर होगा कि चौकी चौकीमें है, आकाशमें नहीं है, आकाश मे आकाश है ऐसे ही देहमे रहकर भी अपनेको पृथक समझो।

सब द्रव्योंका एकत्र अवगाह— इस लोकमें छहोंद्रव्य प्रत्येक जगह हैं। कौनसा प्रदेश ऐसा है, जहां छहों द्रव्य न हो, कहीं कम हो तो कोई जगह बतावो लोकाकाशमे। आकाश तो है ही और लोकाकाशमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तिलमें तैलकी तरह पूर्णरूपसे व्यापक है। तो ये दो भी लोकमें हैं। कालद्रव्य लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक अवस्थित है, इसलिए कालद्रव्य भी इस लोकमें सर्वत्र है। चूंकि द्रव्य अनन्त हैं और बताया गया है कि लोकाकाशमे जीव ठसाठस भरे हैं, लोकाकाशके एक एक जगह पर अनन्तजीव मिलते हैं। अब देखनेमे ऐसा आ रहा है कि देखो वहा टेबिल रखी है, यह भींत है, यह चौकी रखी है, बीच मे तो कुछ भी पुद्गल नहीं है, किन्तु जब जीवद्रव्य है सर्वत्र तो यहा एक एक जीवके साथ अनन्तानन्त तो कार्माणवर्गणाएँ लगी हैं और उनका सूक्ष्मशरीर भी है। कितने ही तो बादर शरीर भी ऐसे होते हैं, जो आखोसे नहीं दिख सकते, पर सूक्ष्मशरीर तो हैं ही। तब पुद्गल स्कन्ध भी बहुत हो गये। इसके अलावा और भी सूक्ष्म स्कन्ध ऐसे हैं जो आंखोसे नहीं दिखते। कितने ही स्कन्ध तो कभी कभी रोशनीमें दिख जाते हैं। जहां सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें आती हैं, सूर्य तक जो हमारी दृष्टि पहुंचती है, सो वहां स्कन्ध जो प्रकाशित हैं, उनकी लैन दिखने लगती है। यों इस इस लोकमें छहो द्रव्य सर्वत्र भरे हुए हैं।

एकत्र अवगाह होनेपर भी प्रत्येक सत्की स्वरूपभिन्नता— यद्यपि लोकमें सर्वत्र छहों जातिके पदार्थ हैं, फिर भी स्वरूपको देखो तो एक द्रव्य में दूसरा द्रव्य नहीं है। आकाशमे आकाश है, आकाशमें जीव नहीं है, पुद्गल नहीं है, धर्मादिक नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपमे है, परके स्वरूपमें नही है। जब इस आत्मदर्शीको ऐसा दिख जाये कि मेरा निवास मेरे स्वरूपमे है, अन्यत्र नहीं है, इस वर्णनके पश्चात् थोड़ी यह जिज्ञासा होती है कि आत्मदर्शीकी कैसी भावना रहती है और अनात्मदर्शीकी कैसी भावना रहती है और इन सब भावनाओंके फलमें इसकी किस प्रकारकी परिस्थिति बनती है? इस ही जिज्ञासा का समाधान इस वाले श्लोकमें किया गया है।

अनात्मदर्शीकी परिस्थिति— इस शरीरमें यह मैं आत्मा हूं, इस

प्रकारकी भावना हो तो यह अन्य अन्य देहकी प्राप्तिके लिये बीजरूप हो जाता है। जैसे खेतमे बीज डाले तो उसका नया अंकुर नया पौधा बन जाता है—ऐसे ही इस देहमें यह मैं आत्मा हूँ—ऐसी भावना की तो यह भी अन्य देहकी प्राप्तिका कारण बन जाता है। यों कह लीजिए कि किसी को शरीर ही शरीर चाहिये तो उसका उपाय है कि इस देहमें यह मैं आत्मा हू, ऐसी वासना बनाता जाये। लौकिक जन तरसते हैं कि मेरा जन्म हो, अच्छा जन्म हो, देवगतिमें जन्म हो, राजा महाराजाके घर पर जन्म हो, जन्म जन्म तरसता है यह जीव। जन्म लेनेका उपाय भी यही है कि देहमें मैं आत्मा हू, ऐसा मानता जाये। शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे इसका तो ठेका नहीं लिया जा सकता है कि इस गतिमें जन्म होगा, किन्तु इसका ठेका लिया जा सकता है कि यह जन्मता रहेगा, शरीर मिलते ही रहेंगे। इसमें रंच भी कसर नहीं है। जो देहमे 'यह मैं आत्मा हूं' ऐसी भावना करता है, उसे अनात्मदर्शी कहते है। उसका फल है ससारमें रुलता रहना और नये नये शरीर धारण करते रहना, सकट सहते रहना।

आत्मदर्शीकी परिस्थिति— जो आत्मदर्शी पुरुष होते हैं अर्थात् इस आत्मामें ही भावना करने वाले होते हैं। आत्माको ही लक्ष्य करके यह मैं हूं' इस प्रकारकी प्रतीति करने वाले जो पुरुष हैं, उनकी आत्मामें आत्माकी भावना रहती है। यही आत्ममें आत्मभावना देहरहित होनेका उपाय है, मुक्तिका उपाय है। नये नये शरीर मिलते रहें, उसका यह सुगम उपाय है कि इस देहमें 'यह मैं हू, यह मैं हू' ऐसा मानता जाय तो देहसे छुटकारेका उपाय है कि वे देह आत्माको आत्मा मान लें।

सृष्टिकी सुगमता— लोकमें किन्हीं किन्हीं मन्तव्योंमें ऐसी भी प्रसिद्धि है कि ईश्वर इस सृष्टिको करता है। उनसे पूछा जाए कि वह ईश्वर इस सारी सृष्टिको कहा करता है? कैसे उसके हाथ पैर हैं? कहां बैठता है? तो उनका उत्तर होगा कि ईश्वर इच्छा भर करता है और यह सारी सृष्टि यों ही हो जाती है। अब इसका अर्थ लगावो। ईश्वरस्वरूप किसका है? सर्वज्ञताका जिसका स्वरूप है— ऐसे ये सभी आत्मा अन्तरंग दृष्टिसे ईश्वर हैं। अरे ये सब ईश्वर इच्छा ही भर तो करते हैं कि सारी सृष्टि अपने आप होती रहती है। हम आप जीवोंसे भिन्न कोई ईश्वर हो और वह इच्छा करे तो जो इच्छा करे, उसमें ही परिणमन होगा, उसे ही उसका फल मिलेगा। यहां हम आप जैसा परिणाम बनाते, जैसी इच्छा करते हैं, उसके अनुकूल हम आपको प्राप्ति होती रहती है, सृष्टि होती रहती है। इच्छा भर करनेका काम है, फिर तो हमें कैसा देह मिलना है,

कब तक रहना है, उस देहसे कब बिछुड़ जाना है--ये सारी की सारी बातें स्वतः होती रहती हैं। तो अनेक देह मिलते रहें, नये-नये शरीरोंकी रचना होती रहे इन सबका कारण है देहमें आत्माकी भावना कर लेना।

इच्छामात्रकी कलापर सांसारिक सृष्टि— जैसे बारातोंमें आगोनी होती है। आगोनी उसे कहते हैं जो आगे चले, उसमें जो अनार आदि चालते हैं उसमें जरा सी आगकी बत्ती छुवा दी, इतना ही भर तो काम वह पुरुष करता है, इसके आगे उस अनारमें वह और कुछ प्रेरणा नहीं करता है। अपने आप ही ऊँचे उठना, प्रकाशित होना, दगना सब कुछ हो जाता है। ऐसे ही इस देहमें यह मैं आत्मा हूं इतनी भर बात मान लिया फिर अपने आप ही शरीर बन उठा, सारे दंदफंद लग गये, यह शरीर बन जायेगा, सारे दंदफंद हो जायेंगे। उसमें तुम्हें कुछ नहीं करना है तुम्हारी करतूत तो इतनी भर है कि अहंकार और ममकार कर ले, इतना भर काम किया। उन खोटी स्थितियोंके प्रसंगमें भी अब उसका निमित्त पाकर अपने आप ही यह सारा खिलवाड़ हो रहा है। अनात्मदर्शितासे यह सारा खिलवाड़ अपने आप हो जाता है। देहमें आत्मभावना न करे, आत्मामें आत्मभावना करे तो शुद्ध आनन्द मिलना, ज्ञानप्रकाशका बढना ज्ञानमय उपयोग रहना ये सारी भली बातें हो जाया करती हैं। इसके विपरीत भावमें तो सांसारिक सृष्टि ही हुआ करती है।

विचित्र कला— यह शरीर जड़ है। शरीरके उत्पन्न होने में निमित्त है कर्मोदय। जीव जब विभाव परिणाम करता है तो उस कालमें कर्मप्रकृतिका बंध हो जाता है और उनमें प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग ये चार चीजें हो जाती हैं। अब उनकी सत्ता पड़ी हुई है। जब किसी भी प्रकार वे उदयमें आते हैं तो उनके अनुकूल सब रचना होने लगती है। यों यह शरीर कर्मोदयजन्य है। इसमें मेरी करतूत कला नहीं है। मेरी करतूत कला तो इस प्रसंगमें इतनी मात्र है कि इच्छा कर लें। इच्छा भर की कि वे सारे काम होने लगते हैं। कैसा चमत्कार है इस जीवका? प्रभुता तो इसकी निराली है ही। यह इतनी सामर्थ्य रखता है कि जब बिगड़ता है तो अपनी अद्भुत छटा दिखा देता है और जब संभलता है तो अपनी अद्भुत छटा दिखा देता है।

बिगड़नेमें कलाका विस्तार-- देखो अनन्त ऐश्वर्यकी सामर्थ्य वाला यह जीव जब बिगड़ता है तो इतनी तक भी छटा दिखा सकता है कि पेड़ बनकर पत्ती पत्तीमें, फूलोंमें, फूलोंके मध्य जो बालके समान पतला मकरंद होता है उसके समान पतले डोरों जैसे में आत्मप्रदेशोंमें यह जीव फैल

गया है और जड़ोंसे पानीका जो लेप आहार करते हैं उन सारे शरीरोंमें प्रवेश करा लेता है। यह आत्मा यह समयसार यह जीव चेतन जब विगड़ता है तो विगड़नेकी भी निराली छटा दिख जाती है। कोई वैज्ञानिक बना तो ले विज्ञानसे इन जड़ शरीरोंको। यह तो सब इस प्रभुकी छटा है। यह जीव जब विगड़ता है तो यहां तक विगड़ता है।

संभालनेमें कलाका विस्तार— भैया ! यह जीव जब सभलता है तब प्रतिक्षण एक अद्भुत आनन्दका पान करते हुए अपने आपमें ज्ञान-प्रकाशका विस्तार करता है जिसके प्रतापसे भव-भवके बँधे हुए कर्म भी यों खिर जाते हैं। ऐसे आतरिक अद्भुत सातिशय चैतन्यचमत्कारको चकचकायमान करता है, संभलता है तो ऐसा अद्भुत संभालता है। संभालने का उपाय है आत्मामें आत्माकी भावना करना। इस जीवने अब तक देहमे आत्मभावनाकी है इसका ही फल है कि अब तक ससारमें रुलता चला आ रहा है। शरीरमें आत्मभावना करने के फलमें अन्य शरीरोंमें भी अपनी रिश्तेदारी कुटुम्बपना ये सब मानना पड़ा, पर तत्त्वतः देखो तो इस अपने आत्माका जो अमूर्त निर्लेप है क्या है आत्मतत्त्वमें ?

भ्रममें मान अपमानका भ्रम— जैसे भिखारी भिखारियोंमें भिखारियोंकी ही कोई बात सुनकर कोई भिखारी ऐसा समझता है कि मेरी शान धूलमें मिल गयी, हम बरबाद हो गए। कोई तीसरा पुरुष ही यह जानता है कि यह भिखारी व्यर्थ ही ऐसी कल्पना बनाए है। क्या विगड़ा इसका ? न कुछ सी बात है। ऐसे ही जहां मोही मोहियोंका सम्बन्ध बना हुआ है? वहा पर प्रत्येक मोही जीव जरा-जरा सी बातमें अपना अपमान महसूस करता है, पर ज्ञानीपुरुष ही जानता है कि इसमें क्या अपमान हुआ है कुछ भी तो नहीं हुआ। दूसरे ने अपने कषायके अनुकूल अपनी चेष्टा की इसमें किसी दूसरेका अपमान क्या ? दूसरी बात यह है कि कोई पुरुष किसी दूसरेका अपमान कर ही नहीं सकता। वह दूसरा अपमान मान ले तो अपमान हुआ और यों देखता रहे कि अमुक देखो कैसी अज्ञानभावना में चेष्टा कर रहा है। कैसी कषायभावकी अपनी प्रवृत्ति कर रहा है ? ऐसा ही ज्ञाता दृष्टा रहा तो उसका अपमान नहीं हुआ।

कष्टोंका कारण वहिर्मुखी वृत्ति— जो जीव देहमें भोगोंमें आसक्त रहता है वह चिरकाल तक नये-नये शरीर धारण करता हुआ ससारमें भटकता रहता है और अनन्त कष्टोंको भोगता रहता है। मोह छोड़े बिना पूरा न पड़ेगा और मोह छोड़नेमें कठिनाई क्या ? व्यर्थका तो मोह है। आपके घरमें आज हम पैदा नहीं हुए तो आप हमें गैर समझ रहे हैं और

ज़ो आज आपके घरमे हैं वे आपके घरमें न पैदा हुए होते, किसी दूसरेके घरमें पैदा हुए होते तो आप उन्हें गैर समझ लेते। है दोनो ही गैर, जो घरमें उत्पन्न हुए, और जो किसी दूसरेके यहां उत्पन्न हुए। आपका तो यह देह भी नहीं है। आपका आत्मस्वरूप ही आपका है। पर ऐसे आत्मा के एकत्वकी ओर दृष्टि नहीं हुई है और बहिर्मुख उपयोग वृत्ति हुई है तो कष्ट तो भोगना ही पडेगा। आज जिस पुरुषके विरोधके प्रोग्राम बना रहे हैं कभी उस पुरुषको अपना ले, तो विरोधकी भावना खत्म हो जायेगी तब वह भी यह समझेगा कि यह तो मेरा है, इसे तो और सुख देना चाहिए वस्तुतः तो कौन किसका है ? कषायके अनुकूल ही ये सब मेरे तेरे मानने की पद्धति है। जिस आत्माके निजस्वरूपमे ही आत्मतत्त्वकी भावना है मैं तो यह ज्ञानमात्र अमूर्तिक आनन्दमय चैतन्यतत्त्व हूं--ऐसी जिनकी दृष्टि हुई है उनको बाहरमे क्लेश नहीं होता हैं। आत्मतत्त्वकी भावना वाले संत कुछ निकटमे ही कर्मबंधनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं। मुक्त अवस्था में, विदेह अवस्थामे निराबाध अनन्त सुखमे मग्न रहते हैं।

आत्मभावनाकी शिक्षा-- इस श्लोकमे बताया गया है कि शरीर मिलते रहनेका कारण है शरीरमे आत्मभावना करना। और शरीरोंका मिलना बंद हो जाय, मैं शरीरसे भी विविक्त केवल निज ज्ञानस्वरूपमे रहूं तो उसका उपाय है आत्मामे आत्माकी भावना करना। जिसकी जैसी भावना होती है उसके अनुकूल उसे फल मिलता हैं। जिसकी भावना शरीर में आत्मा माननेकी है उसको शरीर मिलते रहेंगे। जिनको शान्ति प्राप्त करनेका प्रयोजन है उनको आत्मतत्त्वकी भावनासे ही काम बनेगा। इस श्लोकसे हमे यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमारे जीवनमें मुख्य काम यह है कि मैं शरीरमें या धन वैभवमे अहंकार अथवा ममकार न करूँ। सरल वृत्तिसे आनन्द उमड़ता है और कठिन वृत्तिसे अर्थात् मायाचारके परिणामसे कोई लौकिक सुख मिला तो वह भी विपदा है। इस कारण एक ही मात्र कर्तव्य है कि हम आत्मामे 'यह मै आत्मा हूं' ऐसी अपनी दृढ़ भावना बनायें।

नयत्मात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव वा।
गुरुरात्मात्मनस्तस्य नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

परमार्थतः स्वयंका स्वयं गुरु— यह जीव अपने आपको अपने आप ही जन्मअवस्थामें ले जाता है और अपने आपको ही निर्वाण प्राप्त करता है। इस कारण परमार्थसे आत्माका गुरु आत्मा ही है। मुक्तिका मार्ग असहाय मार्ग है, परकी सहायता जहां रंच न हो ऐसा स्वसहाय मार्ग

है। यह जीव अपना जैसा परिणाम बनाता है, इस परिणामके अनुकूल इसकी गति स्वयं होती रहती है। जैसे कि पहिले श्लोकमें बताया है कि शरीरमें आत्मभावना की जाए तो नए नए देह मिलते रहेंगे और आत्मामें आत्मभावना की जाए तो देहरहित अवस्था हो जाएगी। यों निर्वाणअवस्था को प्राप्त करानेके लिए कोई दूसरा गुरु नहीं है। स्वयंका ही परिणाम निर्मल करना होगा, तब मुक्ति मिल सकती है। भले ही हितकारी गुरुवोंका उपदेश सुना जाए, किन्तु अपना ही परिणाम जब तक उसके अनुकूल न बनाया जाए, तब तक तो उसको शांति और सुखका मार्ग कैसे मिल सकता है?

परमार्थतत्त्व व उसका परमार्थश्रद्धान्— भैया! शांति व शान्तिके मार्गको प्राप्त करने वाला सर्वप्रथम परिणाम है कि अपने आपका जैसा यथार्थस्वरूप है, तैसा विश्वास करना। स्वय परके सम्बन्ध बिना अपने आपकी जो स्थिति हो, वह ध्यानमें न आये तो अपना विश्वास नहीं किया समझिये। कल्पना कर लो कि यह शरीर अपने साथ न होता और जो कार्माणवर्गणाएँ हैं, वे भी न होतीं इस आत्माके साथ तो आत्मा कैसी स्थितिमें रहता? इसका अन्दाज करनेसे आत्माके स्वरूपकी परख होती है। यह शरीर न होता और केवल मैं ही होता तो यह मैं अमूर्त आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दस्वरूप एक चेतन द्रव्य सकल अञ्जनोंसे रहित केवल प्रकाशमात्र होता। ये कर्म भी न होते तो मैं ऐसा शुद्ध ज्ञानज्योतिमात्र होता, न वहा रागका उदय होता, न द्वेषका, न मोहका— ऐसा मेरा सहजस्वरूप है।

भ्रांतिका कष्ट— यह जीव ऐसे अपने सहजस्वरूपको भूलकर व्यर्थ की जो भिन्न परवस्तुयें हैं, उन्हें यह 'मेरा है' यों मानता है तो माननेसे कुछ अपना हो न जायेगा, पर अपना मान लिया, इससे जो कलंक आत्मा में लगा, बहिर्मुखता हो गई उसके फलमें, फिर यह जन्ममरणके चक्कर लगाता है। लोकमें सबसे बड़ी दुर्लभ वस्तु है सम्यग्ज्ञान। जिस जीवको यथार्थ ज्ञान है, उसे आकुलता कभी नहीं हो सकती। काहे की आकुलता! मान लो आज धनी थे, कुछ गड़बड़ी हो गयी रात्रिको न रहा धन। कल के दिन तो ज्ञानीपुरुष इसमें खेद नहीं मानता है। वह तब भी यह जान रहा है कि मैं जितना था, जैसा था, वैसाका वैसा आज भी हूं। जो व्यर्थके अज्ञान अन्धकारमें पड़े हैं, इस मायामयी लोकमें जो अपनी शान बढ़ाना चाहते हैं, उनको तो कष्ट ही है।

परमार्थ व मायाके रुचियोंकी स्थितियां— जिसको जीवन प्यारा

बाहरी बातोंका इतना मूल्य न समझे। कुछ मिल गया तो ठीक, न मिल गया तो ठीक। जैसी परिस्थिति हो वह ठीक। यदि मन स्थिर है, मन भी चंगा है तो समझो कि अपना आनन्द अपने पास है। कोई भी बाह्यसंपदा हो, धन प्यारा हो और इस लोकमें मेरी शान रहे, ऐसी कल्पना प्यारी हो उनको कर्म सताया करते है। जो अपने सहजस्वरूपको जानते हैं, उससे ही जिसका प्यार है, जीवनको भी एक औपाधिक घटना जानते हैं, मैं तो अजर अमर हू, अजन्मा हूं, ऐसे ज्ञायकस्वरूपकी जिन्हें रुचि है, उनको जीवन भी रुचिकर नहीं है। अशांति है, अशांति अशांति ही बढ़ रही है और यहांके कुछ लोगोंके स्वार्थवश थोड़ा हाहा-हूहू कह दिया और उसमें बह गए, यह बुद्धिमानी नहीं है।

ज्ञानीका विवेक— भैया! ज्ञानीका परिणाम बड़ा घोर होता है, विवेकपूर्ण होना है, उसे न जीवनसे प्रेम है, न धनसे प्रेम है और न यहां की इज्जतसे प्रेम है। उसे तो प्रेम है अपने अन्तःस्वरूपमें बसे हुए इस कारणपरमात्मतत्त्वसे। ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आलम्बनरूप परिणाम जहां होता है, वहा निर्मलता बढती है, तब यह आत्मा अपने ही ज्ञानबलसे अपने आपको अपने आपके ही द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति करा लेता है। दूसरा कोई निर्वाण न करा देगा। मरनेसे तो कोई बचा नहीं सकता अथवा किसीके मनमें कोई विकल्प उठ रहा हो, उस विकल्पकी पीड़ा हो, उस दुख से तो बचा नहीं सकता, निर्वाण जैसी बात तो बहुत बड़ी बात है। किसी के वशकी बात नही है कि अन्य किसीको कोई कुछ कर सके। बड़े बड़े पुरुषोंकी भी यहा मनचाही बात नहीं हो सकी। अजना और पवनञ्जय का किस्सा, श्री राम और सीताकी कहानी आदि अनेक उदाहरण हैं कि इतने महान् होकर भी मनचाही बात नहीं हो सकी। कौन किसे निर्वाण करा सकता है? एक रावणके ही वश मे उत्पन्न हुए उनके लड़के तो मोक्ष चले जायें और रावण ज्योंका त्यों बल्कि अधोलोकमें उत्पन्न हो, सब अपने अपने परिणामोंकी बात है।

तत्त्वदर्शनके अभावमें झंझटोंका संकट— इस जीवका गुरु यह जीव स्वयं है, दूसरा कोई गुरु नहीं है। जब तक यह जीव अपने कषायभावपर विजय नहीं करता, जिस तरहकी इच्छा उठी, जिस तरहका विकार जगा, उस विकारके वश होकर उस विकारसे मलिन हो गया तो यह जीव अपने उद्धारका यत्न कैसे करेगा? यह तो संसाररूप कीचड़में फसा रहेगा। जैसे स्वप्नमें कोई किसीकी बड़ाई कर रहा हो, कोई किसीका यश गा रहा हो और वह खुश हो रहा हो तो वहां वास्तविकता कुछ भी नहीं है। केवल

स्वप्नके दृश्य हैं—ऐसे ही यहां पर कुछ मोही दूसरे मोहियोंकी प्रशंसा कर रहे हों तो वहां वास्तविकता कुछ नहीं है, केवल कल्पना ही कल्पना है। तत्त्व आत्माके अन्तरमें केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ही पड़ा हुआ है, वह तत्त्व है। उस तत्त्वकी ही दृष्टि हो, तब तो इस संसारसमुद्रसे पार हो सकते हैं।

मोही प्राणीकी भटकन—यह अपना परमात्मा अपने आपकी दृष्टि में न हो तो यह भूला भटका, यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है, कहीं इसको स्थान नहीं मिलता। जैसे फुटवाल पूजनेके लिए नहीं होता है, यहांसे वहां दौड़ानेके लिए है, ठोकरें खानेके लिए होता है, उसे कहीं आराम नहीं मिलता है—ऐसे ही फुटवालकी तरह यह मोहीप्राणी ठोकरें खानेके लिए है। स्त्रीकी, पुत्रोंकी, पड़ौसके लोगोंकी ठोकरें खानेके लिए है। कोई राग-भरी ठोकर मारता है तो कोई विरोधभरी ठोकर मारता है। जैसे यहां पर फुटवालको कोई पैरसे ठोकर मारता है तो कोई हाथसे ठोकर मारता है तो कोई सिरसे ठोकर मारता है। फुटवाल तो ठोकरें खानेके लिए है—ऐसे ही कोई अपनी प्रीति, राग दिखाए, द्वेष दिखाए तो आकुलता सबमें एकसी है। द्वेषके व्यवहारमें, राग और असमताके व्यवहारमें कम आकुलता नहीं होती।

राग और द्वेषकी चोटें—कोई मेरे प्रतिकूल मेरा मुकावला करने के लिए आ गया। बातोंसे वह मुझे परास्त करना चाहता है। इस मुठभेड़ में जैसी हमें आकुलता है, उससे भी अधिक आकुलता परिवारके प्रेमभरे वचनोंके सुननेमें होती है, पर यह मोही यह महसूस नहीं करता है। उसे तो वे स्नेहभरे वचन प्रिय लग रहे हैं। भीतर कैसी खिचड़ी पक रही है, कैसा विह्वल परिणाम हो रहा है? वह द्वेषके मुकावलेसे कम नहीं है। राग का अन्धा सप्तम नरक तक जन्म ले लेता है। द्वेषसे कितने भी कुछ उपद्रव प्राप्त किए गए हों, उससे भी अधिक दुर्गति इस रागके अन्धेकी होती है। सप्तम नरकसे भी निम्न गति है निगोदकी। निगोदमें जन्म रागके अन्धेका होता है। द्वेषसे ग्रस्त पुरुषका जन्म निगोदमें नहीं होता है। रागकी चोट द्वेषकी चोटसे भी बुरी है। द्वेषमें तो यों समझो कि ऊपरी चोटसी है, ये तुरन्त विदित हो जाता है, महसूस होता है, समझने लगता है, पर रागकी बहुत गहरी चोट होती है।

आत्मगुरुता—रागद्वेषसे प्रेरित होकर यह जीव अपने आपको इस संसारमें घुमा रहा है, किन्तु आत्मबुद्धी, आत्मामें ही आत्मबुद्धि करने वाला पुरुष अपने आपको शांतिके मार्गमें बढ़ा ले जाता है। इसका गुरु यह

आत्मा ही स्वयं है। हमें अपने आपके परिणामोंपर दृष्टि देनी चाहिए। बाहरी बातोंका इतना मूल्य न समझें। कुछ मिल गया तो ठीक, न मिल गया तो ठीक, जैसी परिस्थिति हो वह ठीक। यदि मन स्थिर है, मनचंगा है तो समझो कि अपना आनन्द अपने पास है कोई भी बाह्य सम्पदा हो, ज्ञान नहीं है तो वहां आकुलता ही मचेगी। अपने आपको अपना गुरु मान कर अपने परिणामोंपर निर्भर रहना चाहिए।

सुभवितव्यता-- जब इस जीवकी संसारकी स्थिति संनिकट होती है अर्थात् निर्वाणप्राप्तिके सम्मुख होती है तो दर्शनमोहनीय का उपशम अथवा क्षयोपशम होता है, क्षय भी होता है। उस समय यह जीव अपने आपके ज्ञानबलसे अपने आपमें अपने आपकी पहिचान कर लेता है। तब कभी-कभी यह सद्गुरुणियोंके उपदेशके बिना भी यह जीव आत्मस्वरूप को पहिचान लेता है और रागद्वेष आदिक कषायभाव और विभाव परिस्थितियोंका त्याग करके स्वय कर्मबन्धनसे छूट जाता है। इस कारण परमार्थ दृष्टिसे देखो तो यह खुद आत्मस्वरूप अपने आपका गुरु है। दूसरा कोई गुरु नहीं है। गुरुसे आशा किया गया काम इष्ट पदार्थोंका श्रद्धान् करना और इष्ट पदार्थोंका ज्ञान करना और इष्ट पदार्थोंका आचरण करना है। इस आत्माका अभीष्ट तत्त्व है एक शुद्ध आत्मतत्त्व। इस शुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान् कोई दूसरा नहीं करा सकता, इस आत्मतत्त्वका रमण कोई दूसरा नहीं करा सकता। इसलिये यह आत्मा ही गुरु है आत्मा ही स्वयं कर सकता है। हम मानें तो मान ले, न माने तो न मानें, पर दूसरेमें यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी बातको वह मुझसे मना ही ले। कोई कितना ही समझाये, हमारे ज्ञानमें वह बात बैठे तो हम उसके जानकार हो सकते हैं। जब हमींने अपनेमें ज्ञानका परिणाम किया तभी तो जाना, हमारी दृष्टि स्वयं निर्मल हो और हम यथार्थतत्त्वका ज्ञान करके शुद्ध आत्महितमें लग जायें तो हमारा कल्याण है।

मोहमें पतन और निर्मोहितामें उद्धार— भैया! मोह ममतामें रह कर कुछ उद्धार नहीं होनेका है बल्कि मलिनता आ जाती है। यह जीव सब जीवोंसे न्यारा है, लेकिन दो चार जीवोंको यह अपना मान लेता है यह सब मोहका गहन अंधकार है। है सबसे न्यारा, इससे सब जुदे हैं पर उन जुदोंमें से दो चारमें स्नेह भाव वे तो इसे क्या कहा जाय? यह सब विकल्प व्यामोहका फल है और उस व्यामोहमें केवल दु:ख ही है। बड़े-बड़े पुरुष श्री रामचन्द्र, पाण्डव और-और भी सब जब तक घरमें रहे तब तक एक न एक कष्ट आता रहा। शांति तब मिल पायी जब सर्वपरिग्रहका

त्याग करके, सर्वसम्बन्धोंका नाता तोड़कर केवल निज ब्रह्मस्वरूपसे ही अपना नाता रखा तब शांति मिली। बड़े-बड़े पुरुष भी त्यागमार्गमें आकर ही शांत हो सके, मुक्त हो सके। तब समझिये यही सबके लिए मार्ग है। जो जितना चल सकेगा वह उतना फल पायेगा। मगर संचयका मार्ग अपनानेसे, मोह ममता का मार्ग अपनानेसे शांति प्राप्त नहीं हो सकती है।

आकिञ्चन्यभावका प्रसाद— शान्तिका कारण तो निर्मोहता वैराग्य ज्ञान आत्मसंतोष, धैर्य, आत्मदृष्टि ये ही हैं। उद्धारका उपाय मोह नहीं है राग नहीं है। अब जाना ना। जितना जो कुछ अपनी शांतिके लिए किया उस सबको एक बारमें मिटा दीजिएगा तब शांतिका मार्ग मिलेगा। सीधा अर्थ यह हुआ। इस विकल्पसे जितना धनसंचय माना, कुटुम्ब वाला माना, शान वाला माना उन सबको भूल जाना होगा और अपने आपको आकिञ्चन् मानना होगा तब ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि होगी और इस ही में रुचि होगी, तृप्ति होगी। इस ज्ञानके अनुभवसे ही संतोष होगा और उस स्थितिमें फिर यह जीव सर्वसंकटोंसे मुक्त हो जायेगा।

निर्वाणकी उपादेयता— हमें अपने आनन्दके लिए अपने आपसे ही अपने आपमें कुछ विलक्षण पुरुषार्थ करना है, ऐसा निर्णय करके अपने हितके अर्थ ज्ञान बढ़ायें! उस ज्ञानको बनाये रहें, ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करते रहें, ज्ञानमात्र अपने आपको मानते रहें तो इस ज्ञानभावनाके के मार्गमें लगना चाहिए। मोक्षका मार्ग है अपने आपके आत्माका यथार्थ विश्वास कर ज्ञान करना और उस ही स्वरूपमें मग्न होना। इस रत्नत्रयके प्रसाद बिना मुक्तिका लाभ नहीं हो सकता है। अपने आपको अपने कल्याणके लिए अपनी ही जिम्मेदारी समझकर अन्तरमें अपना शुद्ध परिणाम बना लेना चाहिए तब हमारा यह जीवन सफल है।

परमब्रह्मस्वरूपकी उन्मुखताका अनुरोध— भैया! जो कुछ भी यहां दिख रहा है वह सब कुछ भी मेरा कुछ नहीं है। मैं तो शाश्वत ज्ञानज्योति मात्र हूं। इस ज्ञानज्योतिके ज्ञानके अभ्यासमें पहिले मोहवासनासे वासित होने के कारण कष्ट मालूम होता है, किन्तु ज्ञानका अभ्यास हो जाने पर सत्य आनन्द प्रकट होता है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस ही परमशरण अन्तस्तत्त्वकी ही चर्चा करें और इसमें ही लीन होने का यत्न करें। अन्य कुछ कल्पनायें इस जीवके क्षेमको करने वाली नहीं है। इस निश्चल ज्ञानस्वरूपकी निश्चल धारणा होने पर निश्चलता ज्ञानदृष्टिमें रहनेके कारण यह सब झूठा चलायमानसा नजर आता है। इस अचलित परविविक्त

आत्मतत्त्वमें अपने उपयोगका निवास बनायें, यह परमयोग हमें सदाके लिये संकटोंसे मुक्त करा देगा। ऐसा यह परमनिर्वाण सदा मुक्त, सदाशिव, सनातन, ज्ञायकस्वरूप परमब्रह्मकी दृष्टिके प्रसादसे प्राप्त होता है और यह दृष्टि हमारे किये ही होगी। अतः ज्ञानस्वरूप, कारणसमयसार, परमब्रह्मके ज्ञानका हम निरन्तर यत्न करें। इसही पुरुषार्थसे हमारा मानव जीवन प्राप्त करना सफल होगा।

❀ इति समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ❀

मुद्रक—जैन साहित्य प्रेस, सदर मेरठ।
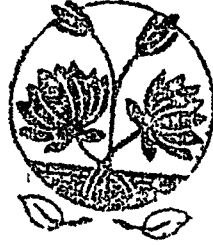
# आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[ १ ]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[ २ ]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[ ३ ]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[ ४ ]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[ ५ ]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥

—:०:—